भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य
का
लोकतात्त्विक अध्ययन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय को डी० फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध]

卐

प्रस्तुतकर्त्ता
कृष्ण मोहन सक्सेना
शोध-छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

निर्देशक
डॉ० राजेन्द्र कुमार वर्मा
एम० ए०, डी० फिल्०
हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद-विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

विजयदशमी १९७३

निवेदन

निवेदन

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग भारतीय जीवन और साहित्य में नव्यचेतना के प्रसार का युग है। परम्परा के पोषण और नवीनता के उद्बोधन की भूमिका में भारतेन्दु-युगीन साहित्य अपना विशेष महत्व रखता है। हिन्दी गद्य साहित्य में विविध साहित्य रूपों का उद्भव भारतेन्दु-युग में ही हुआ। प्रयोगों की दृष्टि से भारतेन्दु-युग का गद्य साहित्य अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है तथा उसमें साहित्यकारों की नवोन्मेषशालिनि प्रतिभा की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

भारतेन्दु-युग लोकजीवन में नव्य चेतना के प्रसार और जागृति का युग था। इस युग के साहित्यकारों ने सामयिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में श्लाघ्य अभिव्यक्ति प्रदान की है। विशेषकर यह अभिव्यक्ति विविध गद्य रूपों के अन्तर्गत हुई। जीवन की विविध समस्याओं का प्रत्यक्ष निदर्शन अन्य रूपों की तुलना में नाटक के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक सफल रूप में सम्भव थी। अतः अपने युग का बोध कराने वाले तथ्यों तथा लोक जीवन को परिष्कृत करने वाले विचारों और आदर्शोन्मुख मूल्यों को भारतेन्दु-युगीन नाटककारों ने अपनी कृतियों में वाणी प्रदान की है। नाट्य-कृतियों के सृजन में भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने कदाचित् इसीलिए लोकतत्वों को एक सहज भूमिका एवं प्रक्रिया में ग्रहण किया है। अपनी इस साधना में वे लोकमानस को नव्यचेतना प्रदान कर उसे प्रेरित एवं उद्वेलित करने में सफल हो सके हैं। वस्तु, भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोकपक्ष किस स्तर पर समाहित है? साथ ही, भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अपनी कृतियों में किस सीमा तक लोकतत्वों को आत्मसात किया है? -- जैसी समस्याओं को "भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन" शीर्षक शोध-प्रबंध के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य के लोकतात्विक अध्ययन की संभावनाओं से प्रेरित होकर प्रस्तावित विषय के औचित्य के संबंध में मैंने डा० सत्येन्द्र से पत्राचार किया। उन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक मुझे लोकतात्विक दृष्टि से भारतेन्दु-

युगीन नाट्य-साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त होने की अनुमति प्रदान की । इसके उपरान्त मैं डा० राजेन्द्रकुमार के निर्देशन में प्रस्तावित विषय पर शोध-कार्य में प्रवृत्त हो गया ।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का लोकतत्वों की दृष्टि से प्रस्तावित अध्ययन 'भारतेन्दु-युग और लोकतत्व', 'भारतेन्दुयुगीन नाट्यसाहित्य में लोक-कथानक', 'भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोकरूढ़ि', 'भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोकभाषा का स्वरूप', 'भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य में लोक-रंगमंच', 'मूल्यांकन और स्थापनाएं' -- शीर्षक छह अध्यायों में विभक्त है ।

पहले अध्याय में भारतेन्दुयुग और लोकतत्वों की सहज ग्रहणशीलता के संदर्भ में विवेचना प्रस्तुत की गई है । भारतेन्दु युग की सीमा, भारतेन्दु युग का महत्व, भारतेन्दु युग और जनसाहित्य , जन साहित्य और लोकतत्व उप-शीर्षकों के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग के समग्र अन्त: वाङ्मय स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है । इस विवेचन के उपरान्त लोकतत्व की भारतीय तथा पाश्चात्य अवधारणाओं का विवेचन करके नाट्य-चेतना की दृष्टि से लोकतत्व के चार उपकरण निरूपित किए गए हैं । वे हैं -- लोककथानक, लोकरूढ़ि, लोकभाषा और लोकरंगमंच । इन उपकरणों की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोक-संमंच व्याप्त लोकतत्वों के संभावना-पक्ष पर विचार किया गया है, जिससे यह स्पष्ट आभासित होता है कि विविध लोकतात्विक उपादानों से भारतेन्दु-युगीन नाटक परिपूर्ण रहे हैं ।

दूसरे अध्याय में के अन्तर्गत लोककथानक का स्वरूप विश्लेषित करने के पश्चात् लोककथानकों के आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य को वर्गीकृत किया गया है, जो इस प्रकार है -- धर्मगाथामूलक, प्रेमगाथामूलक और लोक-कथात्मक अन्य रूप । धर्मगाथामूलक नाटकों के स्वरूप विश्लेषण के उपरान्त इस वर्ग के अन्तर्गत समाहित नाट्य-साहित्य पांच धाराओं में विभक्त किया गया है -- [अ] रामकथापरक नाटक, [ब] कृष्णकथापरक नाटक, [स] कौरव-पाण्डकथापरक नाटक, [द] पातिव्रत्य-धर्मकथापरक नाटक, [य] लोकप्रसिद्ध भक्त

कथापरक नाटक । तदनन्तर इन विभागों के अन्तर्गत समाहित नाटकों के कथानकों में व्याप्त लोकपक्ष का विश्लेषण किया गया है । भारतेन्दु-युग के प्रेमकथामूलक नाटकों के अन्तर्गत सुखान्त प्रेम नाटक एवं दुःखान्त प्रेमनाटक के लौकिक पक्ष पर विचार किया गया है । इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युग में धर्म गाथा और प्रेम गाथा से संबंधित नाटकों की संख्या पर्याप्त रही है, अतएव नाटककारों की मूल दृष्टि लोकपरक ही रही है । लोककथात्मक अन्य रूपों पर आधारित नाटकों का ऐतिहासिक तथ्य, सामयिक, सामाजिक धर्म, सामयिक राजनीति तथा लोकधर्मी नाट्य रूप -- वर्गों के अन्तर्गत विवेचन किया गया है । इस प्रकार युग-बोध के अनुरूप भारतेन्दुयुगीन नाटकों का कथात्मक परिधान विविध विषयों से सम्बद्ध तो हो गया था, किन्तु उनका मूल आन्तरिक स्वरूप मूलतः लोकोन्मुख था ।

तीसरे अध्याय में सर्वप्रथम लोकरूढ़ि के स्वरूप का विवेचन घटना-प्रधान और विचार अथवा विश्वास प्रधान दो रूपों में किया गया है । इससे भारतेन्दु-युगीन नाटकों में व्याप्त विविध लोकरूढ़ियों को विश्लेषित करने में सुगमता रही है । लोकविश्वासों से सम्बन्धित रूढ़ियां, अमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित रूढ़ियां, अभिशाप-वरदान और तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित रूढ़ियां एवं अन्य रूढ़ियों के अन्तर्गत कथा-प्रवाह को मनोवांछित परिप्रेक्ष्य प्रदान करने वाली रूढ़ियों का विशद विवेचन और भारतेन्दुयुगीन नाटकों में अभिव्याप्ति का चित्रण किया गया है । भारतेन्दु युग के नाटककारों ने उन परम्परित रूढ़ियों का सशक्त विरोध किया है, जिससे लोकमानस अधोगामी हो जाता है । अतएव, अंत में रूढ़ि-परिष्कार का विवेचन किया गया है ।

चौथे अध्याय के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग की भाषा-नीति एवं भाषा प्रयोग की दृष्टि से किन-किन स्तरों पर परिवर्तित हुई है ? और भारतेन्दुयुगीन भाषा कितनी लोकोन्मुख रही है ? इन प्रश्नों पर विचार करने के उपरान्त भारतेन्दु युग के प्रमुख नाटककारों की भाषा-नीति का विश्लेषण किया गया

है, जिससे नाटकों में लोकभाषा के प्रयोग का औचित्य मुखरित हो सका है। भाषा के लोकतात्विक स्वरूप ग्रहण करने की भूमिका में व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वदेशी तथा विदेशी शब्द-प्रयोग, वाक्य-योजना, मुहावरों एवं कहावतों के प्रयोगों का भारतेन्दुयुगीन नाटकों के आधार पर विश्लेषण किया गया है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की भाषा-नीति तथा प्रयोग-दृष्टि में समानता दृष्टिगत होती है। इसीलिए उनके नाटकों की भाषा तत्वत: सम्प्रेषणीय हो सकी है। अन्त में अनेक संवादों को प्रस्तुत करके भाषा की प्रेषणीयता पर विचार किया गया है।

पांचवें अध्याय में भारतेन्दुयुगीन रंगमंच की भूमिका का सम्यक् विश्लेषण किया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो सका है कि रंगमंचीय परम्परा में किस प्रकार लोक-नाट्य रूप का जीवन्त स्वरूप प्रतिबिम्बित होता रहा है। इसी आधारपर भारतेन्दुयुगीन नाटकों में सहायक लोकनाट्यरूप -- रामलीला, रासलीला, स्वांग और नौटंकी का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भारतेन्दुयुगीन विविध रंगमंच नाटककारों को प्रभावित करते रहे हैं किन्तु इस प्रभाव के साथ ही नाटककार लोकोन्मुखता की मूल चेतना से असंपृक्त नहीं हुए हैं। अंग्रेजी, बंगला एवं पारसी रंगमंच के विवेचन से बंगाल की लोक कथा और पारसी रंगमंच के लोकोन्मुख प्रस्तुति से भारतेन्दुयुगीन नाटकों ने किस सीमा तक प्रेरक तथा स्वस्थ प्रभाव ग्रहण किया है, इसका स्पष्टीकरण हो सका है। भारतेन्दु युग में नाट्य-लेखन के साथ ही अभिनय-पक्ष पर भी नाटककारों की व्यापक दृष्टि रही है। अतएव इस परिप्रेक्ष्य में भारतेन्दुयुगीन काशी, प्रयाग, कानपुर, बलिया, बिहार और मध्यप्रदेश की लोकरंगचेतना का सम्यक् विवेचन किया गया है। नाटककारों की प्रखर लोकदृष्टि लोक रंगान्दोलन के पक्ष की पुष्टि करती है। तदोपरान्त लोक उपकरणों, रंगशाला की व्यवस्था, पात्रों का अभिनय, ध्वनि, संगीत एवं गीत व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था -- की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटकों की लोकोन्मुखता पर विचार किया गया है।

छठे अध्याय में भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य का लोकतत्वों के प्रयोग की दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है और अध्ययन की स्थापनाएं निरूपित की गई हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य की निर्मिति में सहयोग प्रदान करने वाले विविध लोकतत्वों का अध्ययन और विश्लेषण करके यह निरूपित करने का विनम्र प्रयास किया गया है कि भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य प्रकृत्या लोकोन्मुख है।

~~लोक साहित्य~~ इस सम्बन्ध में यह निवेदन प्रासंगिक होगा कि लोक-साहित्य और संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और गम्भीर है कि लोक की भूमिका में उनके अध्ययन की पूर्णता का दावा कर पाना कठिन है, फिर भी भारतेन्दुयुगीन नाटकों की उपलब्ध एवं शोधित ~~सामग्री~~ सामग्री के आधार पर प्रस्तावित अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने की चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत शोध-कार्य डा० राजेन्द्रकुमार के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। उनके प्रति श्रद्धापूर्वक आभार ज्ञापित करना मैं अपना दायित्व समझता हूं क्योंकि उन्हीं के स्नेहपूर्ण निर्देशन एवं सहज आत्मीय व्यवहार से मुझे विषय को गम्भीरतापूर्वक आत्मसात करने की दृष्टि तथा अनुसंधान की सही दिशा प्राप्त हो सकी।

यह प्रबंध जिन विद्वानों के अमूल्य सुझावों एवं संकेतों से अनुप्रेरित है, उनमें विद्वत्वर डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र, डा० गोपीनाथ तिवारी, डा० बच्चन सिंह, डा० कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, श्री रायकृष्ण दास, पं० सुमित्रा-नन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, डा० रामविलास शर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० अमृतलाल नागर, डा० सोमनाथ गुप्त, डा० दशरथ ओझा, डा० प्रभात, डा० हरिवंशराय बच्चन, पं० इलाचन्द्र जोशी, श्री श्याम परमार, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, श्री श्रीकृष्णदास, श्री शरद नागर, श्री कुंवर जी अग्रवाल, श्री नेमिचन्द्र जैन, श्री राजेन्द्र रघुवंशी, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, श्री कैलाश

कल्पित, डा० धीरेन्द्रनाथ सिंह और डा० अज्ञात विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों ने प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने पर अपना अमूल्य समय प्रदान कर तथा पत्राचार द्वारा लेखक को अध्ययन की नई दिशा खोजने की दृष्टि प्रदान की है। एतदर्थ, मैं इन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

प्रस्तुत अध्ययन की आधारभूत एवं संदर्भ-सामग्री के अध्ययन और संचयन में मुझे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ; भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग; विश्वविद्यालय पुस्तकालय, प्रयाग ; आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय, लखनऊ, अमीरुद्दौला पुस्तकालय, लखनऊ, भारत कला भवन, काशी आदि संस्थानों से अप्रत्याशित एवं उन्मुक्त सहायता मिली है। अत: मैं इन संस्थाओं के व्यवस्थापकों तथा पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं।

श्री श्रीनिवास तिवारी ने सुस्पष्ट टंकण-कार्य में और श्रीमती कामेश्वरी सक्सेना ने टंकण-कार्य का मूल से मिलाप करके कार्य को शीघ्र पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया है। अत: वे इस सहयोग के लिए धन्यवाद के सहज अधिकारी बन गये हैं।

अन्त में, मैं एक बार पुन: उन सभी विद्वानों और शुभेच्छुओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने प्रस्तुत अध्ययन को पूर्ण करने में अपनी सद्प्रेरणा से मुझे उपकृत किया है।

[कृष्णमोहन सक्सेना]
शोधछात्र, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

विजयादशमी, १९७३।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन

अनुक्रम

---o---

अध्याय - १

भारतेन्दु युग एवं लोकतत्त्व

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग की सीमा

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म सन् १८५
में हुआ था और सन् १८८५ में वे इस वसुंधरा पर अक्षयकीर्ति को छोड़कर स्वर्गवा
हुए । इस प्रकार पैंतीस वर्षों की अल्पायु का ही वे उपभोग कर सके । किन्तु
इतनी ही अवधि में उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित करके भारतीय समाज तथा हि
साहित्य के उन्नयन में जो योग प्रदान किया, वह अतुलनीय है । उनका व्यक्ति
अत्यधिक सम्मोहक और अद्भुत था । यही कारण है कि वे स्वयं तथा अन्य अने
जागरूक-जनों का सहयोग प्राप्त कर एक महान् साहित्यिक परम्परा को जन्म दे
में सफल हुए । भारतेन्दु की महानता से प्रभावित होकर ही हिन्दी साहित्य
समीक्षकों ने उनके समकालीन साहित्य-रचनाकाल को `भारतेन्दु-युग` के नाम से
सम्बोधित किया है ।

सन् १८६८ ई० में `कवि वचन सुधा` मासिक पत्र व विद्यासुन्दर नाटक के
प्रकाशन द्वारा तथा सुप्रसिद्ध नाटक `जानकीमंगल` में लक्ष्मण की भूमिका के अभि
के माध्यम से भारतेन्दु के ज्ञान एवं कार्य का प्रकाश क्रमश: विस्तीर्ण होने लगा ।
किन्तु, उन्होंने `अत्यन्त बाल्यावस्था से कविता करनी आरम्भ की थी ।`[१]
अतएव भारतेन्दु की साहित्यिक-साधना की भूमिका में भारतेन्दु-युग का आरम्भ
सन् १८६० ई० से माना जा सकता है । वैसे, भारतेन्दु-युग का आरम्भ प्राय: उ
जन्मकाल सन् १८५० ई० से माना जाता है । चूंकि भारतेन्दु के जन्मकाल से ही
नव्य राष्ट्रीय शक्तियों का उदय हो रहा था और उसी वातावरण में कवि
भारतेन्दु के मानसिक जगत को विविध दिशाएं सुलभ हुईं । जागरूक भारतेन्दु ने
समस्त शक्तियों का समन्वय कर राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने वाले कार्यों
तत्परता के साथ नेतृत्व किया । एतदर्थ, उनके जन्मकाल से सन् १८६८ ई० तक की

१- श्यामसुन्दर दास -- राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ३७४ ।

अवधि को भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि स्वीकार कर सन् १८५० ई० से ही भारतेन्दु-युग का समारम्भ मानना सर्वथा उपयुक्त होगा । अध्ययन की सुविधा के लिए भी यही मत स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है ।

सन् १८८५ ई० में भारतेन्दु के निधन के उपरान्त भी उनकी प्रतिपादित काव्य-शैली एवं मित्र-मण्डली की उनके प्रति निष्ठा लोगों को प्रभावित करती रही । यह प्रभाव सन् १९०० ई० तक निश्चित रूप से परिलक्षित होता है, क्योंकि सन् १९०१ ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हो जाने के कारण हिन्दी साहित्य की विकासात्मक प्रवृत्ति में एक नया मोड़ आया । इस अवधि तक देश की परि-स्थिति में भी प्रभावशाली परिवर्तन अवतरित हो गये थे । एतदर्थ सन् १९०० ई० को भारतेन्दु-युग की उत्तर-सीमा मानना उपयुक्त प्रतीत होता है ।

भारतेन्दु युग का महत्व

भारतेन्दु-युग एक महान क्रान्तिकारी युग था । भारतेन्दु की कार्य-तत्परता ही इस युग को दिव्य चेतना प्रदान करने में समर्थ हो सकी । उनके निधन पर शोक-प्रकाश करते हुए लाहौर के पत्र 'मित्र-विलास' के सम्पादक ने लिखा था -- "प्यारे हरिश्चंद्र ! काशी में जहां और बड़े-बड़े तीर्थ हैं, वहां तू भी एक तीर्थ-स्वरूप ही था । काशी में जाकर और तीर्थ पीछे स्मरण होते हैं, तू पहले मन में स्थान कर लेता था । तीर्थों पर पुरोहित-घाटियों को प्रसन्न करने, अपनी नामवरी कमाने व दान-दक्षिणा देने को यात्री लोग जाते हैं, पर तेरे पास सब भिक्षा के लिए ही आते थे, और किसकी भिक्षा ? प्रेम की भिक्षा, दर्शन की भिक्षा, सत्परामर्श की भिक्षा । तेरे दरवाज़े से कभी कोई विमुख नहीं गया, तू संसार में इसलिए नहीं आया था कि अपना कुछ बना जावे, किन्तु इसलिए आया था कि बना-बनाया भी दूसरे को सौंप दे ।"[१] इस कथन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने प्रेम, त्याग तथा सेवा की जो त्रिवेणी अपने निवास से प्रवाहित की, वह समूचे भारत के साहित्य-प्रेमियों तथा समाज सुधारकों के अन्तःकरण को सिंचित करती रही । यह कहना

१- श्यामसुन्दरदास -- राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ४१६ ।

उपयुक्त होगा कि "उन दिनों के प्राय: सभी श्रेष्ठ साहित्यकार भारतेन्दु को केन्द्र बनाकर क्रियाशील हुए ।"[१]

भारतेन्दु-युग का सर्वाधिक महत्व यह है कि गद्य की विविध विधाओं की नींव इसी युग में पड़ी । भारतेन्दु ने गद्य की समस्त विधाओं की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा साहित्य को सामर्थ्यवान बनाने का प्रयास किया । हिन्दी गद्य का जो वर्तमान स्वरूप है, उसका स्रोत भारतेन्दु-युगीन गद्य ही है । भारतेन्दु के पूर्व तक साहित्य-रचना में पद्य की प्रधानता थी और गद्य की ओर लेखकों का आकृष्ट नहीं हुआ था । भारतेन्दु के पूर्व जो गद्य-साहित्य उपलब्ध होता है, वह ब्रजभाषा एवं अनगढ़ शब्दावली से समन्वित है । भारतेन्दु ने तीव्रता के साथ यह अनुभव किया कि आधुनिक परिवेश की अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए पद्य अब समर्थ नहीं रह गया है । एतदर्थ, उन्होंने गद्य को अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाया और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अनेक लेखकों ने तत्क्षण ही गद्य के स्वरूप को अंगीकार कर लिया ।

भारतेन्दु-युग की यह दूसरी विशेषता है कि लेखकों ने पुरातन एवं नवीन विचारों का युग-बोध के अनुकूल समन्वय किया है । भारतीय संस्कृति के महान् तत्वों के प्रेरक पक्षों को उन्होंने सदैव उभारा, साथ ही कुप्रवृत्तियों की कटु आलोचना भी की । भारतेन्दु और उनके सामयिक कवियों ने काव्य को भी एक सर्वथा नवीन भाव-भूमि एवं शैली प्रदान की । पूर्ववर्ती समस्त काव्यधाराओं को दिग्दर्शन इस युग के काव्य में प्रचुर रूप से परिलक्षित होता है । किन्तु, इस समय तक काव्य रीतिकाल के वातावरण से पर्याप्त सीमा तक मुक्त हो रहा था । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार --"भारतेन्दु ने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया ।"[२]

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य, पृ० ३९६ ।
२- ,, ,, ,, पृ० ३९७ ।

इस युग में देश में परिवर्तन की लहर नए विचारों का विस्तार कर रही थी और तत्कालीन लेखक-वर्ग इस चेतना से प्रभावित हो रहा था। वह अपनी चिन्तन-प्रक्रिया के माध्यम से जन-जीवन के समक्ष युगानुकूल दिशा को प्रस्तुत कर ही रहा था, साथ ही जन-आकांक्षाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए भी सचेष्ट था। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार, "भारतेन्दु के जीवन में ही खड़ीबोली [काव्य] सम्बन्धी आन्दोलन आरम्भ हो गया था। स्वयं भारतेन्दु ने कविता में गद्य की भाषा के प्रयोग की आवश्यकता समझकर उसमें रचना-कार्य आरम्भ कर दिया था। उन्हें इस कार्य को प्रोत्साहन न मिला, इसलिए उन्होंने ढील डाल दी।"[1]

भारतेन्दु-युग में नाटक लिखना एक मिशन बन गया था, जिससे पढ़ने-लिखने में अल्प अभिरुचि रखने वाले लोग भी नाटक लिखना अपना पवित्र-दायित्व समझने लगे थे। हिन्दी में नाट्य-रचना के लिए भारतेन्दु कितने सक्रिय रूप से चिन्तित थे, इसकी जानकारी 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित विज्ञापन से भलीभाँति हो जाती है। यद्यपि इस विज्ञापन की प्रेरणा से नाट्य-रचना नहीं हो सकी, तथापि नाट्य रचना के प्रति लगाव का स्पष्ट आभास तो होता ही है। यह विज्ञापन इस प्रकार था --

"सब पर विदित हो कि फ्रांसीसी में जो युद्ध हुआ है और हो रहा है, उसका वर्णन जो नाटक की रीति से करेगा तो उसको मेरी ओर से चार सौ रुपए पारितोषिक मिलेगा परन्तु उसके ये नियम हैं -- [1] पुस्तक वीररस अंगी होगी और करुणा और रौद्र उसके अंग होंगे। [2] इसके पढ़ने से युद्ध का आद्योपान्त सब वृत्तान्त जाना जाये कि युद्ध कब और क्यों आरम्भ हुआ और कब तक रहा और इसमें क्या-क्या हुआ? [3] इसका फल यह हो कि पुस्तक के पढ़ने से मनुष्य संधि और विग्रह इत्यादि नीति में युद्ध कर्म में चतुर हो जाये और दो सौ पृष्ठ से न्यून न हो।

नीचे लिखे लोग इसकी परीक्षा करेंगे कि पुस्तक यथोचित रीति से बनी है कि नहीं तब पारितोषिक मिलेगा। बाबू राजेन्द्रलाल मित्र, कुंवर लक्ष्मण सिंह,

---

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० [illegible]२३।

बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह, बाबू नवीन चन्द्र राय, ठाकुर गिरप्रसाद सिंह। हरिश्चन्द्र " २४-१-१८७२ ।

भारतेन्दु-युग के लेखकों ने तत्कालीन समस्याओं का एकजुट होकर मुकाबला किया था। उनका यह दृष्टिकोण आज भी हमारे समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित करता है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "आज की समस्याओं को हम भी अपने ढंग से सुलझा रहे हैं, परन्तु बहुत कुछ असंगठित रूप में, विजय-कामना जितनी बलवती है, उतनी निःस्वार्थ सेवा और त्याग की भावना नहीं। भारतेन्दु युग को हिन्दी का शैशव-काल कहकर हम नहीं टाल सकते, उसकी जिन्दादिली की थोड़ी सी प्रशंसा करने से उसका मूल्य आंका नहीं जा सकता।"[१] अतएव यह सत्य है कि सभ्यता के विकास के साथ ही आधुनिक जीवन की समस्यायें जटिल हो गई हैं, साथ ही युग और परिवेश के अनुसार परिवर्तित भी हुई हैं। किन्तु जन-समस्याओं के समाधान में भारतेन्दु का कार्य आज भी प्रेरणा सूत्रों को विस्तीर्ण करने में सक्षम है। जनमानस को उत्तेजित करने, आशा का सम्बल दिलाने में इस युग के लेखकों ने सक्रिय प्रयास किया है। जनप्रिय साहित्य के माध्यम से अंग्रेजों के अन्यायों, स्वेच्छाचारिता तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के दमन का लेखकों ने साहस के साथ घोर विरोध किया। "जब उन्होंने क्रान्तिकारी हथौड़े से काम नहीं लिया, मृदु संशोधक निपुण वैद्य की भांति नाजुक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की।"[२]

भारतेन्दु युग के कुछ लेखकों में यद्यपि राजभक्ति की भावना विद्यमान थी, तथापि देशभक्ति की उनमें अटूट भावना थी। "राजनैतिक क्रान्ति उन्होंने अपने देश-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण देकर साहित्य प्रेम के साथ ही प्रदर्शित की। अपने देश-प्रेम का परिचय उन्होंने `भारत दुर्दशा` लिखकर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में भी स्वदेश-प्रेम की झलक दी है। सत्य हरिश्चंद्र नाटक में उनकी

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु-युग, पृ० १।

२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य, पृ० ३९८।

राष्ट्रीय भावना इतनी स्वतन्त्र हो गयी है कि वे अपने को रोक भी नहीं सके और नाटक के अन्त में भरतवाक्य के रूप में उन्होंने राजा के मुख से यह कहला दिया --

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होंहि हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै।"[१]

राजभक्ति अपने अस्तित्व के बचाव के लिए अनिवार्य थी। जब अंग्रेजों के अन्याय में तीव्रगति से वृद्धि होने लगी तो समस्त लेखकों ने विद्रोह की राह स्वीकार की। जिस बात को बड़े-बड़े नेता कहते हुए भय खाते थे, उसी बात को भारतेन्दु-युग के लेखकों ने लेखनी के माध्यम से उभारा। परिणामतः इस काल में सुयोग्य नेताओं को उर्वर भावभूमि मिली, अंग्रेजों का सामना करने के लिए विचारों का अस्त्र मिला, जिसके बल पर देश में नवीन चेतना लाने में वे सफल हो सके। भारतेन्दु एक दूरदर्शी व्यक्ति थे, अतः वे राजनैतिक आन्दोलन की बात पर पूर्ण रूप से सोच-समझ चुके थे। "लोगों को कहते हुए हम सुना करते हैं कि गांधी बाबा के पहिले लोग स्वराज का नाम लेते भी डरते थे, सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का साहस न होता था, ऐसे लोगों को या तो साहित्य की जानकारी नहीं है या जानबूझकर वे झूठा प्रचार करते हैं।"[२]

भारतेन्दु युग के साहित्य में जनता के मनोभावों, विचारों आदि की सच्ची अभिव्यक्ति मिली है। अतएव लेखकों के जनवादी दृष्टिकोण का समुचित विकास होने से इस युग की प्रांजलता एवं महत्ता में निश्चित रूप से अभिवृद्धि हुई।

भारतेन्दु-युग और जन साहित्य

जन-साहित्य के प्रति प्रखर लगाव के कारण ही इस युग के लेखक जनता के अधिकाधिक समीप पहुंचने में समर्थ हो सके हैं और युग-धारा को एक नवनिर्मित

१- डा० रामकुमार वर्मा -- साहित्य चिंतन, पृ० ८८।
२- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु-युग, पृ० ७५।

सुनिश्चित दिशा में प्रवहमान करने में सामर्थ्य अर्जित कर रहे हैं। "भारतेन्दु बाबू ने बहुत-सा लोकसाहित्य रचा था और लेख लिखकर बहुतों को इस ओर प्रोत्साहित भी किया था। वे तो साहित्य के सभी अंगों की ओर से सचेत थे, किन्तु जिन शब्दों में उन्होंने ग्राम-साहित्य अथवा लोकसाहित्य की आवश्यकता को व्यक्त किया है, वे हमारे लिए आज भी एक मैनिफेस्टो के रूप में काम आ सकते हैं।"[1]

जनवाणी को लोकगीतों में अत्यधिक प्रभावी ढंग से आबद्ध किया जा सकता है। दुर्भिक्ष के कारण जब जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था, तो 'हिन्दी-प्रदीप' में होली-गीत के प्रवाह में प्रकाशित यह गीत जनता के मानसिक क्षोभों की प्रतिच्छवि प्रदान करने में कितना समर्थ है --

डफ बाज्यो भारत भिखारी को,
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोऊ पूछत नहिं पिचकारी को।
बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल,
भई कठिन बिपत नर-नारी को,
चहुं दिसि काल पर्यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को।

लोक काव्य के रूप कजली में भारत की व्यापक दरिद्रता, भूख और बेकारी की अभिव्यंजना अत्यधिक हृदयस्पर्शी रूप में हुई है।

" घर में अनाज नाहीं, भूखन को लाज नाहीं, कोऊ सिरताज नाहीं,
कपड़ा पुराना - कैसे खेलों कजरी।
सास का बिसास नाहीं, ससुर की आस नाहीं, पंगति को ज्ञान नाहीं,
सैयां खिसयान, कैसे खेलों कजरी।
लोक में नियाव नाहीं, पंच में न्याव नाहीं, साधुता का भाव नाहीं,
अकिल हैरान, -- कैसे खेलों कजरी।

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० ७।

बाम्हन कपूत भैले, मूढ़ राजपूत भैले, भूप यमदूत भैले,

रोवत किसान -- कैसे खेलों कजरी ।

कुआ गैली, मया गैली, दुनिया से दया गैली, सिगरन मन नयी भैली;

स्वारथ कुआ न - कैसे खेलों कजरी ।

धन कहुं रहा नाहीं, अन्न हुं सुराज नाहीं सेंतिया के भैगे,

कहुं जागे न ठिकान -- कैसे खेलूं कजरी [1] ।

भारतेन्दु कृत 'अंधेर नगरी' के गीत भी जनगीत शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं --

चूरन साहब लोग जो खाता,

सारा हिन्द हजम कर जाता ।

चूरन पुलिस वाले खाते,

सब कानून हजम कर जाते ।

ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर [2] ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भावभूमि की दृष्टि से भारतेन्दु युग के लेखक जन-साहित्य से पूर्णत: सम्बद्ध रहे हैं। अपनी विचारधारा को प्रस्तुत करने में जनभाषा को अपनाकर लेखकों ने जनोपयोगी साहित्य के स्वरूप को गौरवान्वित किया है। तुलसी और कबीर की भांति भारतेन्दु ने जनभाषा का आग्रहपूर्ण प्रयोग किया है। अतएव "भारतेन्दु युग की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह जनता का साहित्य है। उसकी भाषा न दरबारों की है न सरकारी अफसरों और कचहरी के मुहर्रिरों की। वह जनता की भाषा है, जिसमें अत्यधिक ग्राम-सम्पर्क के चिह्न भले हों, नागरिक बनाव-सिंगार और टिपटाप का अभाव है। उस पर अवधी और ब्रजभाषा की गहरी छाप है।" [3] भारतेन्दु ने पैदल, बैलगाड़ी, रैलगाड़ी आदि पर भ्रमण करके

१- हिन्दी प्रदीप -- अगस्त सन् १८८८ ई०, पृ० ११-१२ ।

२- रुद्र आशिष्य -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ६७० ।

३- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० १५३ ।

देश की वास्तविक स्थिति एवं संस्कृति का अवलोकन किया था। अतएव उनकी भाषा क्षेत्रीय भाषा की विशिष्टताओं को ग्रहण करके सबल हो सकी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही लिखा है, "कि भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।"[१]

भाषा के साथ ही छंदों की दृष्टि से भी भारतेन्दु युग का साहित्य जन-साहित्य है। सामयिक कवियों ने जनसमूह की समस्याओं को काव्य द्वारा अभिव्यंजना प्रदान की है, तभी तो जनचेतना अंग्रेजी सत्ता के प्रति व्यापक रूप से विरोधी हो गयी थी। इस युग में प्रबन्ध काव्य की सर्जना नहीं हो सकी है, जो कुछ है वह मुक्तक रूप में ही है। अतएव दोहा, चौपाई, रोला, कवित्त, सवैया आदि चिर-परिचित लोक छंदों में काव्य-रचना की गयी है। इसके अतिरिक्त आल्हा, ठुमरी, गजल, कजली आदि लोक छंद रूपों को अपनाकर कवियों ने अपनी प्रतिभा सम्पन्नता का परिचय दिया है।

तत्कालीन लेखकों ने विदेशी वस्तुओं के प्रयोग का विरोध किया था। इस विरोध के स्वरूप को प्रस्तुत एवं इसी प्रकार अनेक लोक छंदों में प्रभावी रूप में व्यंजित किया गया है। ---

मारकीन मलमल बिना, चलत कछु नहिं काम।
परदेसी जुलहान के, मानहुं भये गुलाम॥
वस्त्र, कांच, कागज, कलम, चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेश सों, नितहिं जहाजनि लादि॥
इत की रुई, सींग अरु चरमहिं, नित लै जाय।
ताहि स्वच्छ करि, वस्तु बहु भेजत इतहिं बनाय॥
तिनहिं को हम पाइ के, साजत निज आमोद।
तिन बिन, छिन तुन, सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद॥

१- रामचन्द्र शुक्ल -- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४४६।

एतदर्थ निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाव, भाषा एवं छंद प्रयोग की दृष्टि से भारतेन्दु युग का साहित्य जन-साहित्य की चेतना से अनुप्राणित है। भारतेन्दु ने सन् १८७९ ई० के मई मास के 'कवि वचन सुधा' में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी, जो भारतेन्दुयुगीन की जनवादी साहित्य के सम्बोधन से अभिहित करने के लिए पर्याप्त है। "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किंतु वे जनसाधारण की दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय-संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में, साधारण लोगों में प्रचार की जाएं। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्रामगीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है, इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे गीतों का संग्रह करूं और उनको छोटी-छोटी पुस्तक में मुद्रित करूं। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूं कि वे लोग भी इस विषय पर गीत व छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूंगा और सब लोग अपनी-अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तक दें।"

जन-साहित्य और लोकतत्व

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग का जनवादी साहित्यिक परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जनसाहित्य लोकतत्वों से शक्ति ग्रहण एवं संचित करता है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि लोकतत्व ही जनसाहित्य को आधार प्रदान करते हैं। चूंकि जनवादी परम्परा का मूल लोकतत्वों में विद्यमान रहता है इसलिए लोकतत्वों और लोकसाहित्य के विविध रूपों का विवेचन प्रासंगिक होगा।

'जन' शब्द का अर्थ साधारण जनता के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'लोक' का भी अर्थ साधारण जनसमूह है। इस प्रकार दोनों समानार्थी शब्द हैं। डा० सत्येन्द्र ने 'लोक' की परिभाषा इस प्रकार की है, 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।'[१] महर्षि व्यास ने महाभारत में लोक का प्रयोग साधारण जनता के ही अर्थ में किया है --

अज्ञान तिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टत: ।
ज्ञानांजन शलाकाभिर्नेत्रोन्मीलन कारकम् ॥[२]

इसी प्रकार भगवत् गीता में भी लोक शब्द को साधारण जनता के कार्य-कलापों के संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है --

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥[३]

'जन' शब्द का प्रयोग भी साधारण जनता के लिए अनेक स्थलों पर किया गया है। ऋग्वेद में भी स्पष्ट रूप से यही प्रस्तुत है --

या इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवं ।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनं ॥[४]

'लोक' और 'जन' शब्द के प्रयुक्त अर्थों में समानता परिलक्षित होते हुए भी दोनों में सूक्ष्म अनेक अंतर हैं। सुविधा के लिए साहित्य को आदिम साहित्य, लोक साहित्य एवं जन साहित्य के वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

१- डा० धीरेन्द्र वर्मा -- हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६८५ ।

२- आदि पर्व महाभारत, १।८४ ।

३- गीता, ३।२० ।

४- ऋग्वेद, ३।५३।१२ ।

आदिम साहित्य के युग में समस्त मानवजाति में एकरूपता थी, क्योंकि विकास-प्रक्रिया में सभी एक-सा जीवन-यापन कर रहे थे। उस समय शिष्ट और अशिष्ट की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। आदि मानव जाति में से जब एक वर्ग सभ्यता के आलोक को वरण करता हुआ पुरातनता के निर्मोक को उतार कर ऊर्ध्वगामी हुआ तो अपनी नूतन सत्ता को महत्ता प्रदान करने के लिए उसने अपने को शिष्ट तथा पूर्वाग्रह से युक्त लोगों को अशिष्ट जनसमूह की संज्ञा से अभिहित किया। इस सभ्य जनसमूह ने अपनी ज्ञानराशि को लिपिबद्ध किया और वैदिक परम्पराओं को विकसित किया। किन्तु वह केवल बाह्य रूप से ही विकसित अथवा शिष्ट हो पाया था। आंतरिक रूप से वह पूर्व तत्वों से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहा है। अशिष्ट जन समुदाय अपनी आदिम परम्पराओं से ही पूर्णतः सम्बन्धित रहा और उसी में प्रेम, उल्लास तथा आनन्द का जीवन्तता के साथ अनुभव करता रहा। उसे किसी प्रकार की कृत्रिमता रुचिकर नहीं लगी।

इस प्रकार जब समाज में लोक-परिपाटी और वेद-परिपाटी का विभाजन हो गया तो जहाँ शास्त्रों की रचना हुई, वहीं लोक जीवन के विकास के साथ लोक-साहित्य की अभिवृद्धि हुई। लोकसाहित्य में लोकतत्वों को पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा मिली है। इन्हीं लोकतत्वों का आधार ग्रहण करके व्यक्ति विशेष ने जब अपने युग को प्रेरित करने के लिए साहित्य-सर्जना की तो वह साहित्य जन-साहित्य के रूप में अवतरित हुआ। अतएव जनसाहित्य किसी विशेष व्यक्ति द्वारा जनता के लिए लिखा गया साहित्य है किन्तु लोक-साहित्य जनता के लिए जनता द्वारा लिखा गया साहित्य है, जिसमें व्यक्तिगत-बोध के स्थान पर सामाजिक-बोध प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। इस साहित्य का परम्परित मूल्य इतना सशक्त और व्यापक होता है कि प्रस्तुत साहित्य किन-किन लोगों द्वारा रचा गया है, इसकी जानकारी प्राप्त करना दुरूह कार्य हो रहता है।

लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक होती है। समय-समय पर उसका बाह्य रूप परिवर्धित भी होता रहता है किन्तु आन्तरिक रूप सदैव एक-सा रहता है। जन-साहित्य की परंपरा लिखित होती है, उसके बाह्य रूप में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, क्योंकि उसके साथ व्यक्ति विशेष का नाम सम्बद्ध हो जाता है।

वास्तव में लोक-साहित्य के उपरान्त की स्थिति जन-साहित्य है । भारतेन्दु युगीन साहित्य इस विचारणा के अनुसार जनवादी साहित्य है । चूंकि जनवादी साहित्य लोकतत्वों से ही प्रेरणा ग्रहण करता है । अतएव लोकतत्वों के प्रयोग की दृष्टि से इस युग के साहित्य का अध्ययन अपना महत्व रखता है ।

लोकतत्व का स्वरूप

लोकतत्व का तात्पर्य लोकवार्ता के विभिन्न तत्वों से है । लोकवार्ता के विभिन्न तत्वों का निरूपण तभी सम्भव है, जबकि लोक का अर्थ, विस्तार एवं उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण हो जाए । अतएव सर्वप्रथम लोक शब्द से सम्बन्धित भारतीय तथा पाश्चात्य धारणा का निरूपण उचित होगा ।

भारतीय मत

भारतीय मत के निरूपण के लिए वेदों में प्रस्तुत विचारणा से भारतेन्दु तक की विचारणा का बोध यह जानने के लिए आवश्यक है कि विविध प्रसंगों में लोक शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । तदुपरान्त लोकवार्ता शास्त्र के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषा पर भी ध्यान देना अपेक्षित होगा ।

भारतीय साहित्य में लोक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । वैयाकरणों के एक वर्ग ने लोक की व्युत्पत्ति लोकदर्शने धातु में प्रत्यय लगाकर की है, जिसका अर्थ देखने वाला होता है । वैयाकरणों का एक दूसरा वर्ग रुच या रोक (चमकना) से लोक के मूल रूप को निरूपित करता है ।

ऋग्वेद पुरुषसूक्त में लोक शब्द जीव एवं स्थान दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[1] पाणिनी कृत अष्टाध्यायी, पतंजलि कृत महाभाष्य तथा मुनि भरत कृत नाट्यशास्त्र में लोक को शास्त्रेतर, वेदेतर तथा सामान्य जन के सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है । पाणिनि तथा पतंजलि ने अनेक शब्दों की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि वेद तथा लोक में प्रयुक्त हुए इस शब्द के रूप में किस स्तर पर अन्तर हुआ है । अतएव पाणिनी काल में वेद-परिपाटी एवं लोक-परिपाटी का

१- ऋग्वेद -- १।५३।१२ ।

रूप सुस्थिर हो गया था । गीता में प्रयुक्त 'लोक संग्रह' शब्द का अर्थ भी साधारण जनसमूह के आचरण तथा आदर्शों से ही है । इस प्रकार गीता में भी वेद के अतिरिक्त लोक की सत्ता स्वीकार की गयी है । भरतमुनि ने कहा है --

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया ।
लोक धर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥[1]

इस प्रकार लोक-प्रवृत्ति ही नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है । यहां भी लोक का अर्थ साधारण जनसमूह से ही है ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश में प्रयुक्त 'लोक' जनता तथा 'लोक अप्पनाय' शब्द साधारण जनसमूह के कार्य-व्यापार की ओर निर्देश करते हैं ।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के अतिरिक्त हिन्दी में भी लोकशब्द का प्रयोग विविध प्रसंगों में हुआ है । "हिन्दी संत साहित्य में कहीं तो लोक का प्रयोग मृत्यु लोक तथा पृथ्वी के सन्दर्भ में है, कहीं लोक का अर्थ सारे संसार के अर्थ में भी व्यापक रूप से लिया गया है । 'नाव मेरी डूबी रे भाई, ताते चढ़ी लोक बड़ाई ।' कहीं लोक शब्द वेद के प्रतिकूल लोकपरंपरा का अर्थ देता है । इस अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग संत साहित्य में बहुत बार हुआ है ।"[2] कबीर लोक को लौकिक-वैदिक परंपरा में बहता हुआ मानते हैं और सतगुरु को उद्धारकर्ता बताते हैं --

पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथ ।
आगे से सतगुरु मिला, दीपक दीया हाथि ॥

अनेकानेक स्थलों पर स्पष्टरूप से जनसाधारण तथा लोकसमाज के अर्थ में ही लोक का प्रयोग किया गया है । लोक बोल कहाइ हो । संतों के लोकलाज, लोकाचार आदि शब्द का सम्बन्ध जनसामान्य से ही है ।

तुलसी साहित्य में लोक शब्द 'स्थान' अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है । 'लोक

१- नागरी पत्रिका -- फरवरी, सन् १९७३ ई० ।
२- ओमप्रकाश शर्मा -- हिन्दी संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि, पृ० ६-७ ।

विलोक बनाई बजार ।'[1] लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वीलोक के अर्थ में भी हुआ है ।[2] स्थानवाची प्रयोगों के अतिरिक्त लोक का प्रयोग वेद-परिपाटी के विलोम लोक-परिपाटी के सन्दर्भ में अनेक बार हुआ है । तुलसी योग्य स्वामी की रीति बताते हुए कहते हैं । --

लोकहुं वेद सुसाहिब रीती ।
विनय सुनत पहिचानत प्रीती ।[3]

इसी प्रकार वेद की तुलना में लोक अनेक बार प्रयुक्त हुआ है ।[4] सूरदास ने भी लोक शब्द वेद से भिन्न जनसाधारण में प्रचलित अर्थ में किया है । 'नंदनंदन के नेह-मेह जिन लोक लीक लोपी ।'

भारतेन्दुकालीन साहित्य में लोक शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । भारतेन्दु ने लोकलाज,[5] लोक मर्यादा,[6] लोक रीति[7] का अनन्त बार प्रयोग किया है, जिसका अर्थ सामान्य जनसमूह की मर्यादा और रीति से ही है । भारतेन्दु के अतिरिक्त समस्त साहित्यकारों ने 'लोक' को सामान्य जनसमूह के अर्थ में प्रयुक्त किया है --

श्रुति ललना लोक उद्धरन सामर्थ
गोपिकाधीश कृत अंगिकारी ।
वल्लभीकृत मनुज अंकृत जनन
पैधरन मत्स्यादि बहु करुनधारी ।।[8]

१- तुलसीदास -- रामचरितमानस, १।५२।२ ।
२- ,, -- ,, १।१६।२
३- ,, -- ,, १।२७।३
४- ,, -- ,, १।२।३
५- ब्रजरत्नदास -- भारतेन्दु ग्रंथावली -- पृ० ४६, ६५, ७०, २७३, २७४, २०४, ३५२, १५६, ६८५, २०६ ।
६- ब्रजरत्नदास -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ६६ ।
७- ,, ,, ,, पृ० १७२, ४८१ ।
८- ,, ,, ,, पृ० ७१४ ।

तुमहिं असंख्य लोकरंजन तुमहीं अधिनायक।[1]

अतएव विभिन्न अर्थों में लोक शब्द की भारतीय ग्रंथों में अभिव्याप्ति होते हुए यह निश्चित है कि लोक का अर्थ जनसाधारण के कार्य-व्यापार से है। यह जनसमूह विशाल देश के प्रत्येक भाग में होता है और परम्परा-प्रथित जीवन के आयामों से सम्बन्धित रहता है।

'लोक' शब्द के उपरोक्त प्रयुक्त अर्थ के विवेचन के उपरान्त अब भारतीय मनीषियों की परिभाषाओं का विश्लेषण अपेक्षित है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार --"ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोकसाहित्य, लोकशिल्प, लोकनाट्य, लोक कथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं। लोकचित्त से तात्पर्य उस जनता के चित्त से है, जो परम्परा प्रथित और बौद्धिक विवेकापरक शास्त्रों और उन पर की गयी टीका-टिप्पणी के साहित्य से अपरिचित होता है।"[2]

डा० सत्येन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा है -- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोकतत्व कहलाते हैं।"[3]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोक की गरिमा को प्रतिष्ठित करते हुए लिखा है --"लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे यह एक और नया शास्त्र कहकर टाला नहीं जा सकता। लोक-सम्पर्क के बिना अन्य सब शास्त्र अधूरे हैं। लोक लोक का अमृत निष्पन्द जिस शास्त्र में नहीं मिला, वह कितना भी पंडिताऊ हो निष्प्राण रहता है। जो ज्ञान लोकहित के लिए नहीं वह अधूरा है, वह मानवी चिन्तन का सूखा फल है।"[4] अतएव शिष्ट साहित्य के निर्माण में लोक तत्वों

१- ब्रजरत्नदास -- प्रेमघन-सर्वस्व, पृ० २३६।
२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- विचार और वितर्क, पृ० २०६।
३- डा० धीरेन्द्र वर्मा -- हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६८५।
४- सम्मेलन पत्रिका -- लोक संस्कृति अंक --, पृ० ६५।

का प्रभाव रहता है और जितने प्रभावी रूप में लोकतत्व होगा, उतना ही साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक तथा मर्मस्पर्शी हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लोक और शास्त्र के अन्तर को रेखांकित करते हुए कहा है --"लोक जीवन में स्वच्छन्दता है, पर शास्त्रबद्ध जीवन में स्वच्छन्दता नहीं है। स्वच्छन्द शास्त्र को नहीं मानता शस्त्र को मानता है। `शास्त्र` में `शस्त्र` से आकार अधिक है। इसी से इसकी सीमा अधिक है, व्याप्ति अधिक है, अर्थात् उसे देखकर सोचकर कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। उसे नीति से काम लेना पड़ता है, अपने हित का ध्यान रखना पड़ता है। `हित शासनत्वं शास्त्रत्वम्` कहलाता है। पर चाहे `हित अनहित पशु पंछिउ जाना` ठीक हो और यह भी ठीक हो कि `मानव तन गुन ज्ञान निधाना` है किन्तु लोकतट पर खड़ा हित-अनहित पर उतना ध्यान नहीं देता, जितना शास्त्र तट पर खड़ा देता है।"[1] अतएव लोकतत्व जीवनव्यापी है और अपार जनसमूह की प्रकृति का विशिष्ट अंग है।

डा० रवीन्द्र `भ्रमर` ने `लोक` शब्द की सीमा रेखा निर्धारित करते हुए लिखा है --"साहित्य अथवा संस्कृति के एक विशिष्ट भेद की ओर इंगित करने वाले एक आधुनिक विशेषण के रूप में `लोक` शब्द का अर्थ ग्राम्य या जनपदीय समझा जाता है। किन्तु इस दृष्टि से केवल गांवों में ही नहीं वरन् नगरों, जंगलों, पहाड़ों और टापुओं में बसा हुआ वह मानव-समाज जो अपने परम्परा-प्रथित रीति-रिवाजों और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने के कारण अशिक्षित एवं अल्पसभ्य कहा कहा जाता है, लोक का प्रतिनिधित्व करता है।"[2]

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भाषा-प्रयोग की विधि के आधार पर लोक-साहित्य की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए लिखा है --"यदि हम यह विचार करें कि लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य का विभाजक आधार क्या है, तो पता चलेगा कि अभिव्यक्ति के इन दोनों प्रकारों का प्रमुख अन्तर भाषा प्रयोग की

१- वीणा -- ग्राम संस्कृति अंक -- फरवरी-मार्च १९७०, पृ० २१।
२- डा० रवीन्द्र `भ्रमर` -- हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, पृ० ३।

विभिन्नता है। लोकसाहित्य में सामान्यतः भाषा का सृजनात्मक [क्रिएटिव] प्रयोग नहीं होता, लोक कवि [या गायक] भावचित्रों का संघटन नहीं कर पाता। लोकगीत में भी अधिकतर संगीत के सक्रिय सहयोग में दैनिक बोलचाल की भाषा रहती है।[1]

पाश्चात्य मत

लोक वार्ता के लिए अंग्रेजी पर्याय `फोकलोर` [Folklore] प्रयुक्त किया जाता है। सन् १८४६ ई० में थामस् मशीक्स ने `फोकलोर` को तो मान्यता प्रदान की थी। उन्होंने `फोकलोर` की व्याख्या `असभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदायों की प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों के परम्परागत ज्ञान के रूप में की थी।`[2] भारतीय भाषाओं के मनीषियों ने जब भारतीय साहित्य का लोकतत्व की दृष्टि से अनुशीलन किया तो `फोक` के लिए `लोक` पर्यायवाची ही उपयुक्त माना है। `फोक` शब्द ऐंग्लो सैक्सन शब्द ` Folc ` का विकसित रूप है। जर्मन में यह ` Volc रूप में उच्चरित किया जाता है। डा० बार्कर ने फोक शब्द की विवेचना करते हुए लिखा है कि `फोक` से किसी सभ्यता से दूर रहने वाली पूरी जाति का बोध होता है या यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाय तो सुसंस्कृत राष्ट्र के भी सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं। पर `फोकलोर` के सन्दर्भ में फोक का अर्थ होता है --`असंस्कृत लोग`। दूसरा शब्द `लोर` ऐंग्लो सैक्सन `Lar` से निःसृत है और इसका अर्थ है, वह जो सीखा जाए। इस प्रकार `फोकलोर` का शाब्दिक अर्थ `असंस्कृत लोगों की ज्ञानार्जन क्षमता` प्रतिपादित होता है।

टी० शिपले ने `फोकलोर` के अन्तर्गत सभी प्रकार के लोकगीत, लोक कथाएं, अंधविश्वास, स्थानीय गाथाओं, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ आदि को समाविष्ट किया है।[3] `फोकलोर` के अर्थ का विस्तार जे० ए० मिश की परिभाषा में

१- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी -- भाषा और संवेदना, पृ० ३८।

२- इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका [फोकलोर], भाग १०।

३- टी० शिपले -- डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स [लन्दन १९५५], पृ० १६२।

उल्लेखनीय है --"ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों, प्रथाओं और परम्पराओं का सम्पूर्ण योग, जो सभ्य समाज के अल्प-शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है, फोकलोर है। इसकी परिधि में परियों की कहानियां, लोकानुभूतियां, पुराण-गाथाएं, अन्धविश्वास, उत्सव-रीतियां, परम्परागत खेल या मनोरंजक लोकगीत, प्रचलित कहावतें, कलाकौशल, लोकनृत्य और ऐसी अन्य सभी बातें सम्मिलित की जा सकती है।"[1]

श्रीमती शार्लट सोफिया बर्न ने अपनी 'द हैण्ड बुक आफ फोकलोर' में परिभाषा को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया गया है। --"यह एक जातिबोधक ~~उच्चरित किया जाता है। डब्लू० ज़े० टामस~~ शब्द की भांति प्रतिष्ठित हो गया है, जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज़, कहानियां, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़-जगत के संबंध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के संबंधों के विषय में, जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के संबंध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी, इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्य-काल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध-आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशुपालन आदि विषयों के रीति-रिवाज़ इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथाएं, अवदान [लीजेण्ड], लोक कहानियां, साके [बैलड], गीत, किंवदन्तियां, पहेलियां तथा लोरियां भी इसके विषय हैं।[2]

बर्न महोदय ने 'हैण्डबुक आफ फोकलोर' में फोकलोर के अन्तर्गत आने वाले विषयों का निर्देश करते हुए उसके प्रभाव-क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार फोकलोर के विषयों को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है।

[१] वे विश्वास और आचरण-अभ्यास, जो संबंध रखते हैं क- पृथ्वी और

१- स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आफ फोकलोर, भाग-१ [न्यूयार्क १९४९], पृ० ४०१।
२- डा० सत्येन्द्र -- ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४।

आकाश से, ख- वनस्पति जगत से, ग- पशुजगत से, घ-मानव से, ङ-मनुष्य निर्मित वस्तुओं से, च-आत्मा तथा दूसरे जीवन से, छ-परामानवी व्यक्तियों से [जैसे देवताओं, देवियों तथा ऐसे ही अन्यों से], ज-शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से; झ- जादू-टोनों से, -रोगों से ।

[२] रीति-रिवाज -- क-सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएं, ख-व्यक्तिगत जीवन के उद्गार, ग-व्यवसाय-धंधे तथा उद्योग, द-तिथियां, व्रत तथा पर्व, य-खेलकूद एवं मनोरंजन ।

[३] कथाएं, गीत, कहावतें --क- कहानियां, ख-जो सच्ची मानकर कही जाती हैं आ- जो मनोरंजन के लिए होती हैं, र- गीत सभी प्रकार के, त- कहावतें तथा पहेलियां, व-पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें ।[१]

फोकलोर की पाश्चात्य जगत में व्यापकता के कारण इसका सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञान से स्थापित किया गया है । इसके द्वारा रीति-रिवाज का पारम्परिक अध्ययन गम्भीरता के साथ किया गया है ।[२]

भारतीय और पाश्चात्य विचारकों की 'लोक' की परिभाषाओं में पर्याप्त समानता है । भारतीय विद्वानों ने लोकशब्द के अन्तर्गत जो परिभाषा व्यक्त की

१- डा० सत्येन्द्र -- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३३-३४ ।

२- [क] " The business of this society(means Folklore society) is to seek to know the folk in and through their lore so that what is outwordly preceived as a body of custom may at the same time be inwordly apprehanded as a phase of mind."

- R.R. Merit - (Psychology and Folklore Page 12)

[ख] " Folk Psychology-psychology of peoples applied to the psychological study of the belief, customs, convention etc. of peoples, especially primitive, inclusive of comperative study.

a A Dictionary of Psychology by James Drever Page 98.

है, वही पाश्चात्य विद्वानों ने फोक [Folk] की व्याख्या के अन्तर्गत प्रस्तुत की हैं। अस्तु, लोक की भारतीय तथा पाश्चात्य विचारणाओं में साम्य है। सभी की व्याख्या का केन्द्र-बिन्दु आदिम विश्वास एवं रीति-परम्परा ही है।

नाटक का लोकमन से सीधा और गहरा सम्बन्ध है। नाट्य-प्रस्तुति शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षितों को भी ज्ञानार्जन एवं मनोरंजन सुलभ करती है। अतएव यह विधा एक अपार जनसमूह से सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम है। भारतेन्दु-युग के साहित्य में युगबोध लोकतत्व का सहारा लेकर प्रभावी रूप में व्यंजित हुआ है। इस युग के साहित्यकार युग-बोध के व्यापक रूप को लेकर जनता के भावों एवं कार्यों का परिष्कार करके उसे नव्य चेतना से पुष्ट करना चाहते थे। अतएव नाटकों की रचना एवं प्रस्तुति भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनाई गई है।

<u>लोकतत्व के विविध रूप</u>

भारतेन्दु युग की लोकप्रियता में लोकतत्वों का समावेश ही विशिष्ट स्थान रखता है। अतएव इस प्रश्न का समाधान आवश्यक हो जाता है कि वे कौन-कौन से तत्व हैं जिनका आधार ग्रहण करके भारतेन्दु युग में नाट्य-साहित्य की रचना हुई? लोकतत्व की उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य को लोकतात्विक शृंखलाबद्ध करने के लिए निम्नलिखित तत्वों का निर्धारण उचित प्रतीत होता है :--

१- लोक कथानक तत्व
२- लोक रूढ़ि [अभिप्राय] तत्व
३- लोकभाषा तत्व
४- लोक रंगमंच तत्व

अब, यह अध्ययन आवश्यक है कि उपर्युक्त तत्वों की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य की लोकतात्विक सम्भावनाएं कहाँ तक व्याप्त हैं?

<u>लोक कथानक तत्व</u>

लोक का प्राणी अपने उद्गारों को एक आकर्षक कथात्मक परिधान के माध्यम से व्यक्त करता है। लोककथाओं के रूप प्रत्येक देश एवं जाति के जीवन में प्रचलित रहते हैं।

भारतेन्दु युगीन साहित्यकार लोकोन्मुखी होने के कारण लोक-कल्याण की और उर्ध्व अग्रसर रहे हैं। अतएव सामयिक-बोध के साथ संलग्न होते हुए भी उनके कथन में प्राचीन परम्परा से प्राप्य कथा का प्रमुख स्थान रहा है।

धार्मिक कथाओं के मूल में आदिम-मानस (Primitive mind) प्रविष्ट है। कथा में निहित विचार-उद्भावना लोक के प्राणी के मानस में उद्भूत हुए विचारों की ही परिणति है। वास्तव में, आदिम-मानव के उद्गारों में धार्मिक-भावना का समावेश ही नहीं हुआ अपितु उनमें लोक-कल्पना से ही धार्मिक-गाथा को विस्तार मिला है। अतः "धर्म भी लोकतत्व का अंग था और धर्मगाथाएं भी उसी लोकतत्व के आधार पर बनी हैं। लोककथाओं का क्षेत्र बहुत विशद है उसमें धर्मगाथाओं का समावेश सहज ही हो जाता है।"[1] रस्किन ने धर्मगाथा की परिभाषा करते हुए लिखा है -- "एक धर्मगाथा अपनी सरलतम परिभाषा में एक कहानी है, जिससे एक अर्थ सम्बद्ध है, ऐसा अर्थ जो प्रथम प्रकट होने वाले अर्थ से भिन्न हो। ऐसी कहानी में ऐसा कोई अभिप्रेत अर्थ है, यह उस कहानी की कुछ उन परिस्थितियों से साधारणतः विदित होता है जो असाधारण होती हैं, प्राकृतिक घटनाओं के रूपक पर बनी हैं -- पहले आदि मानव समूह ने प्रकृति के इन दिव्य व्यापारों को देखा और इन्हें मूर्त रूप में शब्द का अर्थ माना अथवा शब्द के साधारण अर्थ में अस्वाभाविक होती हैं।"[2] रस्किन ने आगे और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है -- "प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण गाथा में तुम्हें ये तीन निर्माण तत्व मिलेंगे -- मूल बिन्दु तथा दो शाखाएं। मूल बिन्दु (बीज) होता है किसी प्राकृतिक सत्य में। सूर्य अथवा आकाश, अथवा मेघ या सागर उपरांत उसका पुरुष रूप अवतार जो एक ऐसा विश्वसनीय तथा स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है कि उसके साथ हाथ मिला आप ऐसे ही कर फिर सके जो अपने भाई अथवा बहिन के साथ कोई शिशु और अन्ततः इस रूप-कल्पना की नैतिक सारगर्भिता जो समस्त महान धर्मगाथाओं में शाश्वत तथा उपयोगी भाव से सत्य रूप में प्रतिष्ठित होती है।"[3]

१- डा० सत्येन्द्र -- लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० १६२-१६३।

२- जान रस्किन -- द क्वीन आफ दी एयर, पृ० २।

३- जान रस्किन -- द क्वीन आफ दी एयर, पृ० १०।

भारतीय लोकजीवन में अन्धविश्वासों का प्रचलन वैदिक काल के साहित्य से ही मिलने लगता है। अथर्ववेद के अनेक मंत्र इस बात के साक्षी हैं कि उक्त काल में भूत-प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस आदि अलौकिक शक्तियों में विश्वास किया जाता था। जादू-टोना, मोहन-उच्चाटन, वशीकरण आदि अलौकिक क्रिया-व्यापारों को लौकिक मान्यता प्राप्त थी। अथर्ववेद में इन समस्त विषयों से सम्बद्ध मंत्र ही नहीं वरन् उनकी प्रयोग-विधियां भी उल्लिखित हैं। प्रस्तुत वेद में इस आशय के मंत्र भी उपलब्ध हैं, जिनसे कुल-सम्पत्ति और व्यापार आदि में सफलता प्राप्त करने की बात कही गयी है।[1]

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने परम्परागत कथाओं को लोकप्रियता से अभिमंडित करने के लिए लोकरूढ़ियों का प्रचुर प्रयोग किया है, अतएव अभिप्रायों की दृष्टि से नाटकों का अध्ययन पर्याप्त सम्भावना रखता है।

लोकभाषा तत्व

भाषा के माध्यम से ही वैचारिक-स्तर के विविध आयाम प्रस्फुटित होते हैं। भारतेन्दु-युग की भाषा जनसाधारण के बीच से ही विकसित हुई है। स्थानीय बोलियों के शब्दों का प्रचुर प्रयोग नाटककारों ने किया है। "भारतेन्दु ने बुन्देलखण्ड की बोली, नागभाषा, पंजाबी भाषा, नई पंजाबी, मारवाड़ी, उर्दू मिली प्राचीन कविता, तुलसीदास जी की कविता, बैसवारे की कविता, व्रजभाषा की कविता और मैथिली की कविता के उदाहरण दिये हैं।"[2]

मुहावरे भाषा की प्राणशक्ति हैं और इनके प्रयोग से भाषा प्रवहमान बनी रहती है। ग्रामीण-जनों की बातों में पग-पग पर मुहावरों में ही वैचारिक अभिव्यंजना सक्षम रूप में होती है। भारतेन्दु-युग के नाटकों में मुहावरों का प्रयोग अत्यधिक क्षमता के साथ किया गया है। अतएव भाषा की सामर्थ्य बढ़ जाने से नाटककार अपने कथ्य को प्रभावी बनाने में सफल हो सके हैं।

१- बिहारीलाल वर्मा -- विश्व धर्म दर्शन, पृ० २३।
२- डा० रामकुमार वर्मा -- साहित्य चिन्तन, पृ० ६१।

मुहावरों के साथ ही कहावतों का भी प्रचुर प्रयोग भाषा के निखारने में सक्षम है। "कहावत किसी विशिष्ट समुदाय में प्रचलित कोई ऐसा वाक्य है, जिसे लोकानुभव पर आश्रित जीवन की सारभूत समीक्षा कह सकते हैं।"[१] हिन्दी में लोकोक्ति और उपाख्यान कहावत के पर्यायवाची हैं।

भारतीय समाज के उन्नयन में भारतेन्दु युग के लेखक तत्पर रहे हैं। उन्होंने सहज भाषा के स्वरूप को गम्भीरता के साथ स्वीकार कर लिया था। भारतेन्दु-युगीन साहित्य में प्रयुक्त लोकभाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है --"जो लोग साहित्य-सृष्टि करके, भाषा के माध्यम से जनता जनार्दन की सेवा करना चाहते हैं, वे महान् हैं। उनका रास्ता प्रेम का रास्ता है। हमारा यह देश नाना प्रकार की जातियों-उपजातियों में विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों में उद्भ्रान्त शतच्छिद्र कलश के समान है। इसे सावधानी से प्रेमपूर्वक समझाने की आवश्यकता है। ज्ञान इस पर लादना नहीं है। जितना भी मधुर रस आप इसे क्यों न दें यदि उस समय इसके स्वरूप को ध्यान में न रखें तो उसके बहकर गिर जाने का भय है।"[२] लेखकों में इस विचारणा की प्रधानता थी, यही कारण है कि समाज के प्रत्येक वर्ग पर वे मधुर रस आप्लावित करके सामाजिक स्तर को विकसित करने में सक्रिय योग दे सके हैं। भारतेन्दु को लोक-जीवन से ~~अधिक~~ अतिशय प्रेम था। ग्रामों के प्रति शिक्षित लोगों की उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए 'हिन्दी-प्रदीप' में उन्होंने लिखा था --" ये वे ही खेतिहर हैं, जो हमको जिलाते हैं पर गंवार और दिहकानी कह सभ्य समाज के लोग घिनाते हैं। अपने से अत्यन्त निकृष्ट जिन्हें मानते हैं। बड़ा-बड़ा क्लेश उठाय ये बेचारे यदि अन्न न पैदा करें तो इनकी सभ्यता की छिमाकत सब धरी रह जाय। यही कारण है कि ग्रामीण बोलियों से उन्हें अतिशय प्रेम था, यहां तक कि उनके नाटकों में उनका (ग्रामीण बोलियों) कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक प्रयोग हो गया है। भाषा के साथ साहित्यिक संस्कृति पर गांवों का जो प्रभाव पड़ रहा था, वह भारतेन्दु की रचनाओं में और

१- टी० शिपले -- डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स (लंदन १९५५) पृ० ३२७।
२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- विचार और वितर्क, पृ० २०८।

उनके सारे युग में फलकता हुआ दिखाई देता है।"[१]

अतएव, भारतेन्दु युग की भाषा-नीति के आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य के लोकोन्मुख होने की अनेक सम्भावना व्यक्त होती है।

लोक रंगमंच तत्व

वास्तव में नाट्यलेखन तब तक अपूर्ण ही है जब तक उसकी मंच-प्रस्तुति नहीं होती है। यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु युग के नाटककारों ने लेखन एवं प्रदर्शन दोनों क्षेत्रों में समान रुचि ली है। भारतेन्दु युग के `अन्धेर नगरी`, `सत्य हरिश्चन्द्र [भारतेन्दु], महाराणा प्रताप सिंह [राधाकृष्ण दास], भारत आरत [खड्ग बहादुर मल्ल], जानकी मंगल [शीतला प्रसाद त्रिपाठी] आदि अनेकानेक नाटकों के अनेक बार अभिनीत होने के विवरण प्राप्त होते हैं। `अंधेर नगरी` का सूत्रधार कहता है कि --" अहा! आज की संध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहां के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते थे भला वहां अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई।" `जानकी मंगल` नाटक के सन्दर्भ में डा० धीरेन्द्र प्रताप सिंह ने लिखा है --"यह नाटक विशुद्ध रंगमंचीय दृष्टि से लिखा गया है। हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध में सामान्य धारणा है कि उनमें रंगमंच का ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए वे अभिनेय न होकर पाठ्य हो जाते हैं। यह धारणा निर्मूल नहीं है, किन्तु भारतेन्दु युग के नाटक बहुत दूर तक इसके अपवाद हैं। `जानकी मंगल` नाटक के सम्बन्ध में सम्भवतः इससे बढ़कर उल्लेखनीय बात यह है कि यह हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक है। इस नाटक से तद्युगीन लोकरुचि का भी पता लगता है।"[२]

१- डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० १० ।

२- डा० धीरेन्द्रनाथ सिंह --[सम्पादक] -- जानकी मंगल, पृ० १ ।

भारतेन्दु स्वयं रंगमंच की प्रभावोत्पादकता भलीभांति समझते थे और वे सदैव एक उत्तम रंगमंच के निर्माण में प्रयत्नशील रहे हैं। "रंगमंच की प्रभावोत्पादकता को समझते हुए भारतेन्दु ने देश की राष्ट्रीय चेतना को जगाने के लिए नाटक का सहारा लिया।"[1] इस प्रकार आधुनिक युग के प्रवर्तन में नाट्य-साहित्य की भूमिका को प्रखर रूप से स्वीकार किया गया है। भारतेन्दु युग के लेखक जनता के समीप पहुंचना चाहते थे, क्योंकि वे भलीभांति जानते थे कि --"नाटक को अभिजातीय आधार पर संगठित करने के प्रयत्न की असफलता निश्चित है और साधारण जन से विलग करने के प्रत्येक प्रयत्न ने नाटक को शक्तिहीन ही बनाया है। यह बात खेदजनक है कि नाटककार अपने नाटकों की रचना सामान्य लोगों की रंगशालाओं को छोड़कर केवल आभिजात्य वर्ग की रुचियों के अनुकूल करे। यह बात हर व्यक्ति के लिए अच्छी है, सच्चे नाटककार के लिए तो और भी कि वह जीवन क्षेत्र में जाकर जन-सामान्य से मिले। एक ऐसी सम्पन्न रंगशाला की स्थापना करना जो जन-साधारण की सहायता की अपेक्षा नहीं करती, अहितकर होगा।"[2] भारतेन्दु युग के नाटककारों के मनोभावों को प्रतिष्ठा मिली है और "रंगमंच की दृष्टि से विचार करने पर यह साफ दिखाई पड़ता है कि वे जनता के समीप पहुंचना चाहते थे। भाषा की सरलता, जनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीत-ध्वनियां सभी कुछ इसके परिचायक हैं।"[3] सामान्य-जन के मानस को उद्वेलित करने की दृष्टि से उन्होंने जनता के प्रत्येक वर्ग से सम्बन्ध स्थापित किया और उनकी प्रक्रियाओं के स्वरूप को स्वर प्रदान किया है। डा० बच्चन सिंह ने ठीक ही लिखा है --"अनेक वर्गों, जातियों और पेशे के लोगों को उनकी प्रधान विशेषताओं के साथ रंगमंच पर ले आना एक ऐतिहासिक कदम है, जो भारतेन्दु के व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है।"[4]

भारतेन्दु के पूर्व लोकनाट्य शैलियों का प्रसार भारतीय जनजीवन में प्रचुर रूप में रहा है। अतएव विविध नाट्य शैलियों का प्रयोग नाट्य-प्रस्तुति में लेखकों ने

१- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० ३३।

२- डा० इन्दुजा अवस्थी (अनुवादिका) - नाटक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४७।

३- डा० बच्चन सिंह, -- हिन्दी नाटक -- पृष्ठ ३२।

४- वही, पृ० ३१।

किया है। भारतेन्दु की सुपरिचित नाटिका 'चंद्रावली' में रास-शैली का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित है। भारतेन्दु युग के प्रमुख नाटककार पं० प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है --"नाटक 'संगीत-शाकुंतल' में कालिदास की नागरिकता का नाम नहीं है। यह ठेठ देहात में दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा का अभिनय करने के लिए लिखा गया है। इसका ढांचा न संस्कृत नाटकों का एक विशुद्ध रूप है। इसमें कुछ स्त्री पात्रों के गीत ग्रामगीतों की धुन पर बनाए गए हैं।"[1]

भारतेन्दु युग में पारसी थियेटर ने अपना प्रभुत्व देश के एक बड़े भाग में विस्तीर्ण कर लिया था। ये शुद्ध व्यावसायिक संस्थाएं थीं। इन संस्थाओं के अपने निजी लेखक [मुंशी] होते थे और लोक रुचि तथा कम्पनी के व्यवस्थापक के निर्देशानुसार नाट्य-रचना करते थे। नाटकों पर लोक रुचि को विकृत करने का आरोप लगाया जाता है क्योंकि पारसी थियेटर कम्पनियों के संचालकों ने अधिकाधिक धनार्जन की दृष्टि से धार्मिक-पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों के माध्यम से धर्मप्राण जनता का शोषण किया है। इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप भारतेन्दु नाट्य लेखन एवं प्रदर्शन के प्रति सक्रिय रूप से जागरूक हुए। डा० बच्चन सिंह के अनुसार -- "पारसी थियेटर की ह्रासोन्मुख कुत्सित प्रवृत्तियों के विरोध में भारतेन्दु ने नए नाटकों की सृष्टि तथा नवीन रंगमंच की स्थापना की।"[2] वैसे एक प्रकार से इन नाटकों ने हिन्दी को एक रंगमंच प्रदान किया है। इन नाटकों पर नौटंकी के धूम-धड़ाके का पर्याप्त प्रभाव है। हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक 'जानकी मंगल' में उन्होंने अपने आभिजात्य की लेशमात्र चिन्ता नहीं की और लक्ष्मण की भूमिका निर्वाह करने वाले पात्र के अचानक अस्वस्थ हो जाने के कारण शीघ्र ही लक्ष्मण की भूमिका का अध्ययन करके रंगमंच पर प्रविष्ट हुए और अपने अभिनय के द्वारा उपस्थित समुदाय को आश्चर्यचकित कर दिया।

रंग-कार्य के प्रति तल्लीनता के इस रूप का अनुकरण भारतेन्दु-युग के प्रायः

१- डा० रामविलास शर्मा,-- भारतेन्दु युग, पृ० ६७।

२- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० २१।

नाटककारों ने किया है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि --" असली नाटककार अपने युग-चित्रण में मानव चेतना की उस उच्चतर धारा का प्रतिनिधित्व करता है, जो संघर्षरत मानवता की कमाई होती है। जो इतनी सूक्ष्म और अस्पष्ट होती है कि मौजूदा मनुष्य उसे देख नहीं पाता। वही दिखाने के लिए नाटककार अपनी कृति में उस रंगमंच का निर्माण करता है, जिसे सिर्फ देखकर और अनुभूत कर समझा जा सकता है। उसी संवेदना और सत्यानुभूति के लिए नाटककार मनुष्य समाज को अपनी रंगशाला में ले नाकर बैठाता है और मानवजाति को उसकी सप्राणशक्ति तथा प्रकृति-वृत्तियों का अत्यन्त सरलता से खेल-खेल में ही भान करा देता है।"[1] अतएव, भारतेन्दुयुगीन लोकरंगमंच के उपर्युक्त स्वरूप विश्लेषण के आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य के लोकोन्मुख होने की पूर्ण सम्भावना अभिव्यक्त होती है।

निष्कर्षत: यह कहना उचित होगा कि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का लोक-जीवन से अत्यन्त निकटतम सम्पर्क रहा है। लोकजीवन को प्रभावी दिशा प्रदान करने के लिए नाटककार सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। अपने प्रयत्न को सार्थक, सक्षम एवं प्रेषणीय बनाने के लिए उन्होंने लोकतत्वों के उपादानों का प्रचुर प्रयोग किया है, तभी वे नाटक के माध्यम से लोकमानस को अर्वाचीन सांस्कृतिक गरिमा के साथ नवोन्मेषी विचारधारा से सम्पृक्त कर सके हैं। नाट्य-शिल्प के विविध अंगों -- कथानक, प्रयोजन (रूढ़ि), भाषा, रंग-तकनीक आदि को लोकतात्विक स्वरूप से सम्बद्ध करके भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोकचेतना को ऊर्ध्वगामी बना दिया।

१- नागरी पत्रिका -- मार्च-अप्रैल, सन् १९६८ ई०।

अध्याय - २

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोककथानक

लोक कथानक का स्वरूप विश्लेषण

लोक कथाओं के माध्यम से लोकमानस में व्याप्त मूल भावना स्थूल रूप में अभि-व्यक्ति पाती है। विकास की एक प्रक्रिया में लोक प्रचलित कथानक में लोकमानस के एक या अनेक स्तर समाहित हो जाते हैं, क्योंकि ऐसा कथानक एक दीर्घ-यात्रा के उपरान्त वर्तमान रचना में अभिव्यक्ति पाने तक जीवित रहता है। लोकमानस में सहजतः विविध युगों की लोक संस्कृतियों के अवशिष्ट रूप विद्यमान रहते हैं, जो कथानक निर्माण में अपने अस्तित्व को समर्पित करते हैं। नाट्य-साहित्य के द्वारा विविध पात्रों के माध्यम से एक विशिष्ट कथा का स्वरूप निखार पाता है और वह रूप लोक के प्राणी तक प्रतिष्ठा पाता है। अतएव भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य के लोकतात्विक विवेचन में लोकमानस में व्याप्त मूल भावना का विश्लेषण अनिवार्य सा हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि भारतेन्दु युग के नाट्य-साहित्य के निर्माण में लोकमानस कहाँ तक व्याप्त है ?

लोकमानस लोकतत्व के निर्धारण में सर्वाधिक प्रमुख स्थान रखता है। मनो-विज्ञान के क्षेत्र में एक लम्बी अवधि तक चेतन-मानस को ही मान्यता प्राप्त हुई थी। किन्तु फ्रायड के द्वारा अवचेतन मानस के रूप-निर्धारण ने सर्वथा एक नयी स्थिति समुपस्थित की है। फ्रायड की मान्यता में परिष्कार के उपरान्त भी अवचेतन मानस की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। इसी अवचेतन मानस में परम्प-रित प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। ये प्रवृत्तियां ही व्यक्ति एवं समाज के निर्माण में मूलाधार स्वरूप होती हैं। परिणामतः उत्तराधिकार रूप में प्राप्य मानस का स्थान अवचेतन-मानस में ही समाविष्ट हो सकता है। अस्तु, अवचेतन मानस के दो रूपों को स्वीकृति मिली है -- सहज अवचेतन और उपार्जितावचेतन। यह सहज अवचेतन ही लोकमानस है। इस सम्बन्ध में रीड महोदय ने स्पष्ट कहा है --"ऐसा तथ्य, निश्चित रूप से, पूर्व-स्मृति में संचित बिम्ब-प्रतिबिम्ब पर निर्भर रहता है। इसी को फ्रायड ने मस्तिष्क की अवचेतन स्थिति कहा है। जिसमें विविध प्रकार

की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के साथ ही परम्परित-स्वरूप विद्यमान रहता है, जिससे चेतना को प्रखर-शक्ति मिलती है।"[1]

इस उल्लेख में प्रयुक्त परम्परित-स्वरूप ही लोकमानस कहा जाएगा। इस लोकमानस में लोक की विविध भावनाएं समाहित रहती हैं।

लोक-कथानक के आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाटकों का विभाजन

कथानक की दृष्टि से इन भावनाओं के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं --

क- धर्म गाथाएं

ख- प्रेम गाथाएं

ग- लोककथात्मक अन्य रूप

धर्म गाथाएं

धर्मगाथाओं में मूल रूप से आदिम मानस (Primitive Mind) प्रविष्ट रहता है। उसमें निहित उद्भावनाएं लोकमानस से ही छन-छनकर आती हैं। इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र का कथन है कि --"लोकसाहित्य की व्याख्या करने में जब यह विदित हो कि उनके मूल में किसी अधिभौतिक तत्व का प्रतिबिम्ब है कि आदिम मानव ने सूर्य और अंधकार के संघर्ष को ~~अथवा~~ अथवा सूर्य और उषा के प्रेम को अथवा आश्चर्य को ही विविध रूपों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है,

---

१- " Such lights comes, of course, from the latent memory of the verbal images in what Freud calls the pre-conscious state of mind or from still obsecurer state of the unconscious in which are hidden not only the neural traces of repressed sensations but also those inherited patterns whi determine our instinct."

[रीड -- फार्म इन माडर्न पोइट्री -- पृ० ३६]

तो उसका यह रूप धर्मगाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि लोक-साहित्य का वह अंश जो रूप में प्रकटत: तो होता है कहानी पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य-स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है -- वह धर्म-गाथा कहलाता है।"[१] ब्रिटानिका विश्वकोश में बताया गया है --" ये धर्मगाथाएं सोद्देश्य होती हैं। इस सन्दर्भ में किपलिंग की मान्यता है कि बिल्कुल ऐसी कहानियां जिनका उद्देश्य यह व्याख्या करना है, १- यथार्थ पद्धति [उदाहरण के लिए किस प्रकार धरती और आकाश में अलगाव हुआ], २- प्राकृतिक इतिहास की विशिष्टताएं [उदाहरणार्थ वर्षा क्यों होती है तथा विभिन्न पक्षियों के कार्य-कलाप], ३- मानवीय सभ्यता का उद्भव [उदाहरणार्थ सांस्कृतिक देवता की लाभकारी प्रक्रियाएं] तथा ४- सामाजिक या धार्मिक रीतियों का उद्भव अथवा पूजा पद्धति के विशिष्ट रूपों"[२] का विवरण धर्मगाथा के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है।

रस्किन ने धर्मगाथा की व्याख्या करते हुए कहा है --"प्राय: प्रत्येक महत्व-पूर्ण गाथा में तुम्हें ये तीन निर्माण तत्व मिलेंगे -- मूल बिन्दु तथा दो शाखाएं।

१- डा० सत्येन्द्र -- ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ३०४।

२- " As distinct from these last, myths have a purpose. They are essentially aetiological, or as Mr. Kipling would say ' Just so stories,' Their object is to explain (1) Cosmic pheonomena (e.g. how the earth and sky came to be separated;)(2) Peculiarities of natural history (e.g. why rain follows the cries or activities of certain birds;) (3) The origin of human civilization (e.g. through the benâficient action of a culture-hero like Promethens; or (4) The origin of social or religious custom or the nature and history of objects of worship."

[डा० सत्येन्द्र -- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० १६६]

मूल बिन्दु [बीज] होता है किसी प्राकृतिक सत्ता में : सूर्य अथवा आकाश, अथवा मेघ या सागर ; उपरान्त उसका पुरुष रूप अवतार, जो एक ऐसा विश्वसनीय तथा स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है कि उसके साथ हाथ मिलाकर आप ऐसे ही घूम फिर सके जैसे अपने भाई अथवा बहिन के साथ कोई शिशु ; और अन्ततः इस रूप-कल्पना की नैतिकता सारगर्भिता जो सभी महान् धर्मगाथाओं में शाश्वत तथा उपयोगी भाव से सत्य रूप में प्रतिष्ठित होती है।"[1] अतएव यह स्पष्ट है कि धर्मगाथाओं में आज जो पात्र हैं, वे पूर्व अवस्थाओं में किसी प्राकृतिक उपादान का स्वरूप ग्रहण किए हुए थे। पुनः उनका प्राकृतिक रूप विलुप्त हो गया और उनने धार्मिक कथा का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार धर्मगाथा के आधार पर साहित्य निर्मित होता रहा है। जिन कथानकों में धार्मिक आस्था अवतरित हुई, उन्हें एक विशेष वर्ग द्वारा एक विशेष सम्पत्ति की भाँति सुरक्षित कर लिया गया और उन्हीं का आधार ग्रहण कर साहित्य रचा गया। लोकवार्ता के परम्परित उपादानों के आधार पर कभी विष्णु को महत्व दिया गया तो कभी शिव को और इसी महत्व-बिन्दु के आधार पर उपलब्ध सामग्री को नूतन स्वरूप प्रदान किया गया। परम्परित उपादानों में ऐतिहासिक तथ्यों का किसी न किसी रूप में आगमन स्वाभाविक-सा हो जाता है। "मानवीय भाव विकास में बहुधा ऐसा होता है कि जो व्यक्ति और घटनाएं बिल्कुल कल्पनाजनित होती हैं, वे समय पाकर ऐतिहासिक मान लिए जाते हैं। इस ऐतिहासिक युग में जयचंद और पृथ्वीराज का जो सम्बन्ध बताया जाता रहा है, वह कितना काल्पनिक सिद्ध हुआ है। दूसरे शब्दों में जो लोक-कल्पना थी वह इतिहास के रूप में मानी गयी। यदि उस कल्पना को अन्य कसौटियों पर कसकर अनैतिहासिक न सिद्ध किया गया होता, तो वह ऐतिहासिक ही मानी जाती। 'ट्रैजेडी आव व्हेन हाल' भी अनेक विद्वानों की दृष्टि में एक चतुर राजनीतिज्ञ के दिमाग की सूझ मात्र है। यद्यपि यह पूर्णरूपेण निश्चय नहीं हो सका है, किन्तु किसी भी दिन यह ऐतिहासिक घटना कहानी मात्र सिद्ध हो सकती है। इसी प्रकार राम और कृष्ण के सम्बन्ध में

१- जान रस्किन --'द क्वीन आव द एअर', पृ० ३।

विद्वानों में अभी तक मतभेद है। यह बिल्कुल सम्भव है कि ये राम और कृष्ण सूर्य के ही नाम हों। राम तो वैसे भी सूर्यवंशी कहलाते ही हैं -- वे सूर्य की परम्परा में हैं। वेदों में सूर्य अथवा वरुण अथवा उषा अथवा इन्द्र का जिस प्रकार वर्णन हुआ है, उससे वे शरीरधारी पुरुष भी माने जा सकते हैं और कालोपरान्त ऐतिहासिक मान लिए जाएं, तो आश्चर्य की बात नहीं होगी। यूनानी `जियस` वैदिक `द्यौः` ही हैं, पर वह ऐतिहासिक व्यक्ति की भांति माना जाने लगा था। अतः ऐसी समस्त गाथाएं जो यथार्थ ऐतिहासिक बिन्दु पर खड़ी की गई हों अथवा जिनको किसी समय में ऐतिहासिक प्रतिष्ठा मिल गई हो, उन पर बनी हों, वे लोक गाथाएं कही जाएंगी।"[1]

लोकवार्ता साहित्य की धर्मगाथाओं का उदय जिन उपादानों से हुआ, उन्हीं से साधारण लोकवार्ता साहित्य की गाथाओं का भी जन्म हुआ। धर्म-गाथा और लोककथा के उद्भव की अवस्थाएं इस प्रकार निर्धारित करना मान्य होगा।

पहली अवस्था के अन्तर्गत आदि मानव के मानस द्वारा प्रकृति व्यापारों का दर्शन, उनका नामकरण और उनमें अपने जैसे व्यापारों का ज्ञानार्जन समाहित किया गया है।

दूसरी अवस्था में इस ज्ञान के दो रूप हुए हैं। पहले के अनुसार ज्ञान ने विकसित होकर उन प्रकृति के व्यापारों के वाचक शब्दों के यथार्थ अभिप्राय को अंशतः अथवा पूर्णतः विस्मृत कर दिया और उन प्रकृतिवाची विषयों के देवत्व और अलौकिकत्व से विभूषित कर दिया। धर्मभावना में श्रद्धा अथवा भय का संचार कर दिया। ऐसा प्रकृति के उन तत्वों और व्यापारों के सम्बन्ध में भी हुआ है, जो मनुष्य को अपने प्रत्यक्ष अनुभव से उसके दैनिक कार्यक्रम में हानि-लाभ पहुंचाते प्रतीत होते थे। दूसरे के अनुसार उन्होंने ज्ञानात्मक विकास करके प्रकृति के विविध व्यापारों से मिलने वाली शिक्षाओं को हृदयंगम किया। उनके

१- डा० सत्येन्द्र -- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २००।

प्रकृति व्यापारों को कथा का रूप दिया और उनसे कोई न कोई उपदेश प्रस्तुत किया है।

तीसरी अवस्था के अन्तर्गत पहला ज्ञान धर्मगाथाओं के रूप में धार्मिक आख्यानों का आधार बना है। उन्हें मनीषियों ने अपनाकर और भी अधिक श्रद्धा का पात्र बना दिया है। इसमें से महाकाव्यों तथा धर्मगाथाओं के परिपक्व रूप विस्तार पा सके हैं। यह शिष्ट अर्थात् एक विशेष वर्ग की सम्पत्ति होता चला गया है और इसका रूप स्थिर हो गया है।

दूसरे प्रकार के विश्लेषित ज्ञान को साधारण लोक ने अपनाया। इसमें प्रकृति के व्यापारों की शिक्षाएं साधारण कल्पना से विविध रूप ग्रहण करती रही हैं। यही साधारण लोककथाएं हुई हैं। इसमें मनोरंजन तथा नैतिक शिक्षा की प्रधानता रहती है। इस साहित्य में कथा-कहानी के रूप में घटनाएं तो सुरक्षित रही हैं किन्तु नामों की रक्षा नहीं हो सकी है। इसकी आन्तरिक रूपरेखा तो पूर्ववत् रही किन्तु वाह्य रूप में अनेकानेक परिवर्तन होते गये और उसमें विभिन्न रंग समाविष्ट होते गये। विकास की प्रक्रिया में यह सर्वसाधारण की सम्पत्ति बनी।

चौथी अवस्था में मूल लोककथाएं अपने आदि स्रोतों से पृथक होती चली गयीं। वे विविध मानव समूहों द्वारा विविध भौगोलिक प्रदेशों में ले जायी गयीं। उन प्रदेशों के भूगोल के अनुसार उस कथा के स्थानों का नामकरण हुआ। ये अधिकाधिक फलने-फूलने लगीं और उनकी शाखाएं प्रशाखाएं ऐसा नया रूप ग्रहण करने लगीं कि मूल से वे पर्याप्त असम्बद्ध सी प्रतीत होने लगीं। अन्ततः वे बिल्कुल ही साधारण लौकिक कहानियों के रूप में परिवर्तित हो गईं।

पांचवीं अवस्था में ये साधारण लोक कहानियां साधारण जनसमुदाय में प्रचलित हो गईं और साधारण लोकमानस ने इनके समकक्ष स्वरूप पर बिल्कुल लौकिक और स्थानीय विशिष्टता पर आधारित कहानियों की रचना की। साथ ही ऐसी अनेक कहानियों को प्रेरणा स्रोत मिले, जिनका कि उन कहानियों से कहानियों से कोई संबंध ही नहीं रहा है।

धर्मगाथाओं और लोकगाथाओं के सम्मिलन से पुराणगाथाओं का जन्म माना जाता है। धर्मभावना के प्रचार के लिए लोकप्रचलित आश्चर्यजनक कल्पनात्मक परिधान का प्रयोग किया गया, ताकि कथात्मक प्रवाह से लोकमानस प्रभाव ग्रहण कर सके क्योंकि, "पुराण का पात्र सब कुछ कर सकता है। उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं। इसीलिए पुराणों में राक्षस और देवताओं का राज्य होता है। वहां पात्र ऐसे काम कर बैठते हैं, जो संसार में होते नहीं दिखलाई देते।"[1] राम और कृष्ण से सम्बन्धित साहित्य परम्परा-प्रथित जीवनलीला के विभिन्न सूत्रों को आत्मसात करके निर्मित हुआ है। अनेक पौराणिक उपाख्यानों को इसमें समाविष्ट कर लिया गया है और अपने मूल रूप में यह कथा उतनी ही प्राचीनता संजोए हुए है, जितनी प्राचीन स्वयं भारतीय संस्कृति है। क्योंकि, "पौराणिक कथाओं और व्यक्तियों की एक परम्परा होती है। उस परम्परा में जनता अनन्त काल से रमण करती चली आयी है और उसमें रस लेने की अभ्यस्त रही है। अतएव अतीत की इन गाथाओं और नायकों का सहारा जब नाटककार पकड़ता है तो उसकी प्रभाव प्रेषणीयता को स्वतः एक बल मिल जाता है। इसीलिए लोक-कथाओं पर आधारित नाटक बड़े लोकप्रिय होते हैं।"[2] उदाहरणार्थ, "मानस का कथात्मक परिधान, जिसे उसका प्रबन्ध-विधान भी कहा जा सकता है। इस देश की अनेक कथा-कहानियों में थोड़े-बहुत अंतर के साथ उपलब्ध हो जाता है। इस दृष्टि से नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध, ढोला-मारू, पृथ्वीराज-पद्मावती और रत्नसेन पद्मावती की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[3]

प्रेमगाथाएं

प्रेमकथाओं का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। प्रेम मानव-जीवन की एक अवि-भाज्य वृत्ति है। लोक के प्राणी की समग्र अभिव्यक्ति प्रेमरस से परिपूर्ण होती है।

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १३७।

२- नया पथ [सम्पादक यशपाल] - मई १९५६, पृ० ४०८।

३- डा० सत्येन्द्र -- ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ५४६।

अतएव लोकमानस की अभिव्यंजना का यह प्रमुख रूप कहा जा सकता है। इन प्रेम-कहानियों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। "इन कहानियों का विषय वही पुराना होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घरबार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट झेलकर उस राजकुमारी को प्राप्त करना।"[1] इस कथन को इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है -- "कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर या प्रत्यक्ष या स्वप्न या चित्र में देखकर आकर्षित होता है। उधर भी यही हालत होती है। अन्त में वह उसकी खोज में चल पड़ता है। उसे कोई मार्ग-प्रदर्शक भी मिल जाता है। यह अधिकतर राजकुमारी का भेजा हुआ कोई दूत या दूत का काम करने वाला कोई पक्षी या तोता हुआ करता है, कई बार फलागम होते-होते कोई ऐसी भूल उससे होती है, जिससे उसकी उद्देश्य-सिद्धि फिर एक अनिश्चित काल तक के लिए रुक जाती है।"[2] पुनः विगत क्रम विकास पाता है और सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रेम-कथानकों की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान रही है। एतदर्थ, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोकजीवन में धर्मगाथाओं एवं प्रेमगाथाओं की व्याप्ति समानरूपेण रहती है क्योंकि राम-कृष्ण के कथा स्रोतों से नाटकीय विषय-वस्तु का ग्रहण किया जाना, अभिनय के पूर्व कुछ धार्मिक कृत्यों का होना, भरत के नाट्यशास्त्र के शिव का ताण्डव और लास्य नृत्य का पुरस्कर्ता स्वीकार करना नाटक के प्रारम्भ में नांदी का प्रवेश आदि नाटकों को धार्मिक प्रभावों से बहुत कुछ सम्बद्ध कर देते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों के नाटक सम्बन्धी दृष्टिकोण के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।"[3]

लोककथात्मक अन्य रूप

धर्मगाथामूलक एवं प्रेमगाथामूलक भारतेन्दुयुगीन नाटकों के साथ ही लोककथात्मक

१- रामचन्द्र शुक्ल -- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७२।

२- गणेशप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी के कवि और काव्य [भाग-३] पृ० ८।

३- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० १०।

अन्य रूपों के नाटक भी विशिष्ट महत्व रखते हैं, जिनमें लोकतत्व अप्रत्यक्ष रूप से समाहित है -- इसके अन्तर्गत प्रेमगाथा को प्रभावित करने वाले ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नाटक, सामयिक सामाजिक धर्म पर आधारित नाटक तत्कालीन राजनीति-धर्म पर आधारित नाटक और लोकधर्मी नाट्यपरम्परा के रूप को व्यक्त करने वाले नाटक समाहित किए जा सकते हैं।

भारतेन्दु युग के धर्मगाथामूलक नाटकों की विविध धाराएं

धर्मगाथामूलक नाटकों के अन्तर्गत निम्न धाराओं के नाटक समाहित किए जा सकते हैं :--

[क] रामकथापरक नाटक
[ख] कृष्णकथापरक नाटक
[ग] कौरव-पाण्डव कथापरक नाटक
[घ] पातिव्रत्य-धर्म कथापरक नाटक
[च] लोकप्रसिद्ध भक्त कथापरक नाटक

धर्मगाथा का आधार ग्रहण कर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने जो नाटक रचे उसके माध्यम से सामाजिक समस्याओं को हल करने का उद्देश्य प्रमुख था। समाज में धार्मिक-कार्य के आधार पर ही पुनर्जागरण-कार्य सम्भाव्य हो सकता है, इस विचारणा से नाटककार पूर्णतः परिचित थे। फलतः धर्मगाथामूलक आख्यानों को लेकर अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें धार्मिक मान्यताओं की पुष्टि, इष्टदेव की लीला तथा लोकानुरंजन का समन्वित रूप समाहित हो गया है। राम, कृष्ण, कौरव-पाण्डव, लोकप्रसिद्ध भक्तों को चरित-नायक के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने धर्मगाथामूलक नाटकों की धारा में प्रचुर रूप से नाट्य-रचना की है, जिससे लोकतत्व के प्रति उनकी उन्मुखता का व्यापक परिचय मिलता है।

रामकथापरक नाटक

रामकथा के महाकाव्यात्मक रूप एवं पौराणिक-परिधान के कारण ही इस कथा में विविध लोकतत्त्व समाहित हो गए हैं, जिससे यह कथा जनग्राह्य होने के कारण लोकप्रिय होती गयी है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जीवनलीला नाटकों में अवतरित होने से लोकसमाज मार्मिक रहस्यों को सुविधापूर्वक ग्रहण कर सकने में समर्थ हो सका है क्योंकि "रामचरितमानस का देशकाल एक कल्पना-मंडित अतीत से लिया गया है।"[1] यह रामकथा काव्य-रूप एवं नाट्य-रूप में लगभग २५०० वर्षों से लोकमानस को प्रेरित और उद्वेलित करती रही है। युग-बोध के अनुसार कथा-स्वरूप में परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहे हैं किन्तु इसका मूल रूप सर्वथा एक-सा रहा है। वस्तुतः "प्रत्येक युग के आचार्य, कवि और नाटककार इस [वाल्मीकि रामायण] महाग्रन्थ से चालित हुए हैं, कालिदास और भवभूति की रचनाओं पर इसका प्रभाव है और चौदहवीं शताब्दी के लोक-साहित्य में इसका जबर्दस्त प्रभाव है।"[2]

'भारतेन्दु-युग' के नाटककारों ने भी लोकचेतना को उद्वेलित करने के लिए रामकथा का आश्रय लिया है। इस युग में अनेक नाटकों की रचना तो मात्र रामलीला के लिए ही हुई है। भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने यह अनुभव किया कि काव्य-रूप में 'रामचरितमानस' के प्रति जनसमूह आस्थावान है। अतएव रंगमंच पर इसकी प्रस्तुति होकर भावप्रवण जनता के मानस को नवोन्मेषी भावनाओं से पल्लवित-पुष्पित किया जा सकता है। परिणामतः साहित्यिकों ने रामकथा के व्यापक रूप को आत्मसात कर उसका नाट्य-रूपान्तर जनता के समक्ष समुपस्थित किया।

लोकधर्मी परम्परा : रामलीला पर आधारित नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवनकाल में ही रामनगर [वाराणसी] में रामलीला का व्यापक एवं प्रभावी

१- डा० माताप्रसाद गुप्त -- तुलसीदास, पृ० ३६८।

२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८८१।

समायोजन होता रहा, जिसकी परम्परा आज तक जीवन्त है। भारतेन्दु लोक-नायक राम के व्यक्तित्व से घनीभूत रूप में आप्लावित थे। "श्री रामलीला" नाटक का प्रारम्भिक पद है --

> "हरि लीला सब विधि सुखदाई।
> कहत सुनत देखत जिअ आनत देति भगति अधिकाई ॥
> प्रेम बढ़त अघ नसत पुन्यरति जिय में उपजत आई।
> याही सों हरिचंद करत स्तुति नित हरि चरित बड़ाई ॥"[1]

इस रामलीला नाटक में बालकांड से अयोध्याकाण्ड तक के संक्षिप्त रूप की प्रस्तुति हुई है। प्रयुक्त गद्य के माध्यम से कथा-प्रवाह के नैरन्तर्य को बनाये रखने के लिए उपादेय सूत्रों को संजोया गया है। पद, दोहा, सवैया एवं कवित्त आदि लोक छंदों का समावेश इस रामलीला की विशिष्टता है। ऐसा आभास मिलता है कि रंगमंच पर पात्रों के आगमन एवं भावनृत्य नाटिका के रूप में अभिनय-प्रक्रिया को योग देने के लिए छंद प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि मूलाधार महाकवि तुलसीदास का रामचरित मानस ही है, किन्तु भारतेन्दु ने मानस की कथा को आत्मसात कर सहज लौकिक रूप प्रदान किया है। वास्तविकता यह है कि "श्री रामलीला चंपू की विधा में रचित रामनगर में होने वाली रामलीला का सहज-सरस विवरण है।"[2] इस भावनाटिका के बालकाण्ड के अन्त में नाटककार कहता है --"फिर आनन्द से बरात बिदा होकर घर आई। रानियों ने दुलहा-दुलहिन को परछन करके उतारा। महाराज दशरथ ने सबका यथायोग्य आदर-सत्कार किया। अब हम भी श्री जनकलली नवदुलही की आरती करके बालकाण्ड की लीला पूर्ण करते हैं।"[3] इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड के अन्त में नाटककार कहता है --"फिर भरत जी अयोध्या आए और श्री रामचन्द्र जी को फेर लाने के लिए बन गए। वहां

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- श्री रामलीला नाटक, पृ० १।
२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६।
३- वही, पृ० ७३३।

उनकी मिलन-रहन-बोलन सब मानों प्रेम की मराद थी। वास्तव में जो भरत जी ने किया सो करना बहुत कठिन है। जब श्री रामचन्द्र जी न फिरे तब पांवरी लेकर भरत जी अयोध्या लौट आए। पादुका को राज पर बैठा कर आप नन्दिग्राम में वनवासी से रहने लगे। यह भरत जी की आरती करके अयोध्याकाण्ड की लीला पूर्ण हुई।"[१]

श्री शिवशंकर लाल बाजपेयी कृत `रामयश दर्पण` [सन् १८६२ ई०], शिवदास कृत `रामचरित नाटक` [सन् १८६१ ई०], एवं पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत `रामलीला नाटक` [सन् १८७६ ई०] -- रंगमंच पर रामलीला अभिनीत करने की दृष्टि से लिखे गए हैं। इन नाटकों के कथात्मक-सूत्र `रामचरित मानस` से सीधे सम्बन्धित किये जा सकते हैं। शिवदास जी ने अपने नाटक की भूमिका में स्वीकार किया है --" काशिराज महाराज ईश्वरी नारायण जी के प्रसन्नार्थ रामलीला करने के लिए रामचरित मानस के आधार पर रचा गया।" पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने प्रतिदिन कितनी लीला हो -- इसका समुचित उल्लेख कर दिया है।

पं० दामोदर शास्त्री सप्रे ने सातों काण्ड पर आधारित सात नाटकों की रचना की है जिनका नाम `रामलीला नाटक`[१८८२-१८८७ ई०] है। इन सातों नाटकों का कथात्मक-परिधान वाल्मीकि एवं तुलसी की कृतियों पर आधारित है। बालकाण्ड में सीता स्वयंवर में रावण का आगमन होता है और विवाहोपरान्त परशुराम पधारते हैं। राम और जटायु का मिलन सीताहरण के पूर्व ही पंचवटी प्रवेश के समय होता है। रावण को खर-दूषण तथा त्रिशिरा के वध की सूचना शूर्पणखा से पूर्व प्रहस्त राक्षस द्वारा प्राप्त होती है। वाल्मीकि के इन प्रसंगों के साथ ही रामचरितमानस के राम की भांति इस नाटक में भी राम को परब्रह्म रूप में अवतरित किया गया है। सुलोचना-सती का प्रसंग `मानस` पर आधारित है।

१- रुद्र का शिष्य -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७३५।

'रामचरितमानस' पर आधारित बंदीदीन दीक्षित के 'सीता स्वयंवर नाटक' [सन् १८६६ ई०] पर भी रामलीला का पूर्ण प्रभाव है। इस नाटक में रामकथा का सीता स्वयंवर सम्बन्धी एक विशिष्ट अंश ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'सीताहरण' [सन् १८७६ ई०] नाटक भी एक विशिष्ट कथांश पर आधारित है जिसमें नाटककार का प्रमुख उद्देश्य जनता के समक्ष हृदयग्राही घटना को प्रभावी रूप में प्रस्तुत करना कहा जा सकता है।

जैसा कि पूर्व ही उल्लेख किया जा चुका है, लोककथा के माध्यम से इस काल के नाटककार समयानुकूल उपयोगी विचारों को जनता तक सम्प्रेषणीय बनाना चाहते थे क्योंकि वे जानते थे कि लोक तक पहुँचने के लिए लोकजीवन से संबंधित कथानकों का आश्रय अपेक्षित है। "विचारों की दृष्टि से देखें तो ये नाटक बहुत प्रौढ़ हैं। ऐसे प्रगतिशील विचार अन्य नाटकों में प्रायः नहीं मिलते। स्त्री का पुरुष के समान अधिकार है, नाटककार इसकी घोषणा करता है। यह घोषणा सीता के मुख से कराई गई है, यह और भी उत्तम हुआ है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने बीसवीं शताब्दी में एक उपन्यास 'वयं रक्षामः' दिया है। इस उपन्यास की विशेषता है कि इसमें रावण राक्षस - संस्कृति के प्रचार में लगा है। इसी राक्षस संस्कृति के प्रचार के लिए वह आक्रमण करता था। उस काल में दो संस्कृतियाँ एक दूसरे से टक्कर ले रही थीं, एक थी आर्य संस्कृति और दूसरी राक्षस-संस्कृति। कितना आश्चर्य है कि पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने इस विचार को सन् १८७६ ई० में अपने नाटक सीताहरण में स्थान दिया।"[1] पं० बालकृष्ण भट्ट का 'सीता~~हरण~~ वनवास'[2] तीन अंकों का नाटक है। नगर के साधारण व्यक्ति द्वारा सीता की निन्दा और लोकापवाद के भय से सीता को राम द्वारा वन भेजा जाना, वहाँ लवकुश का जन्म, राम द्वारा आयोजित यज्ञ में दोनों का आगमन एवं सीता का पृथ्वी में समा जाना यही इसकी संक्षिप्त कथा है। इस नाटक में भी पौराणिक प्रसंगों का समावेश हुआ है।

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक, पृ० १४६-१४७।
२- पं० बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप [पृ० १५-२०] अक्टूबर १८८२।

पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत रामचरितावली [सन् १८६८ ई०] एवं 'जानकी मंगल' नाटक [सन् १८७७ ई०], श्री रामगोपाल विद्यान्त का 'रामाभिषेक नाटक' [सन् १८६५ ई०], पं० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'सीता वनवास नाटक' [१८६५ ई०] रामभक्ति धारा के अन्तर्गत अपने उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। धीरेन्द्रनाथ सिंह ने 'जानकी मंगल' नाटक के भूमिका में लिखा है -- "मानस के चतुर्थ प्रसंग का यह गद्य में नाट्य-रूपान्तर है। यह नाटक अपने अभिनय के आठ साल बाद प्रयाग के ज्ञानमार्तण्ड यंत्रालय से संवत् १९३३ वि० में मुद्रित प्रकाशित हुआ। पुनः इस नाटक का संशोधित संस्करण खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से सन् १८८४ में मुद्रित तथा प्रकाशित किया गया था।..... इसका ध्येय सहृदयों का मनोरंजन तथा जन साधारण को आनन्द देना था। इस प्रकार यह साहित्यिक रचना है और जनोद्बोधक भी।"[1] यह हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक माना जाता है। "भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का इस नाटक में लक्ष्मण की भूमिका में उतरना यद्यपि आकस्मिक घटना थी, तथापि नाटक की भूमिका में उनके अवतरण ने नाट्य रसिकों को नाट्यारंजन की ओर आकृष्ट होने में प्रेरणा प्रदान की। परिणामस्वरूप हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच का विकासक्रम उत्तरोत्तर आगे बढ़ा। हिन्दी रंगमंच के निर्माण के सौ वर्ष बाद भी यह नाटक रंगमंच के लिए प्रेरणास्तम्भ बना हुआ है।"[2]

रामकथापरक भारतेन्दुयुगीन उपर्युक्त नाटकों में नाटककार की मूल चेतना लोकमानस में व्यापक प्रभाव रखने वाली रामकथा के माध्यम से लोकप्राणी को उद्बोधित करके नयी समस्याओं के प्रति सचेत करना रही है, जिसमें उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

कृष्णकथापरक नाटक

भगवान कृष्ण की लीलाओं के साथ लोकरंजक विशेषण यह प्रतिपादित करता है कि लोक में कृष्णलीला की व्याप्ति अपार जनसमूह के चित्त को अनुरंजित

१- धीरेन्द्रनाथ सिंह [सम्पादक] -- 'जानकी मंगल', पृ० ३।

२- वही, पृ० १।

करने के साथ ही अपने को प्राचीन सांस्कृतिक तत्व एवं परम्परा से संबंधित किए रहा है। श्रीकृष्ण के अवतारी-रूप से सम्बन्ध रखने वाले विविध पौराणिक उपाख्यान लोकजीवन में विकीर्ण हैं, जिनमें लोककथा के उपादान उपलब्ध होते हैं।

श्री कृष्ण गोकुल, ब्रज और वृन्दावन में नन्द, यशोदा तथा गोपि-गोपिकाओं के जीवन-सर्वस्व हैं और इसी बालरूप में उनकी लीलाएं मुग्धकारी हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने विविध कृष्णलीलाओं का आधार लेकर अनेक नाटकों की रचना की। नाटककारों ने इन लीलाओं के पौराणिक आधार के साथ उनके लोकप्रचलित रूप का आधार लिया है। नाटककार पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने नन्दोत्सव [सन् १८८० ई०] में श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव पर होने वाले शुभ कार्यों एवं उल्लास का चित्रण किया है। रास-शैली पर आधारित भारतेंदु हरिश्चन्द्र की नाटिका 'चंद्रावली' [सन् १८७६] में कृष्ण के जीवन प्रसंग को संयोजित करके प्रेम-भावना को पुष्ट किया गया है। भारतेन्दु के इस नाटक का आधार ग्रहण करके पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'ललिता नाटिका' [सन् १८७८ ई०] की रचना की। इसमें चन्द्रावली की भांति ललिता श्रीकृष्ण की प्रेयसी हैं। ब्रजजीवनदास ने 'प्रेमवेल नाटक' [सन् १८८७] में राधाकृष्ण के लोकव्यापी प्रेम का सरल चित्रण किया है। द्विज कृष्णदत्त ने 'युगल विहार नाटक' [सन् १८९२] में राधाकृष्ण के इसी प्रेम को दर्शाया है। सूर्यनारायण सिंह की 'श्यामानुराग नाटिका' [सन् १८९९ ई०] भी कृष्ण की प्रेमरस से ओतप्रोत लीला पर अव-लम्बित है।

कृष्णभक्ति धारा के कवियों ने रासलीला को काव्याराधना का प्रमुख सूत्र माना है। भारतेन्दुकालीन नाटककारों ने भी इस परम्परित रास-शैली का प्रभाव ग्रहण कर नाट्य रचना की। लाला खड्गबहादुर मल्ल का 'महारास' [सन् १८८५ ई०] एवं हरिहर दुबे का 'महारास' [सन् १८८४ ई०] इस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। रास-चित्रण हरिवंश पुराण पूर्वार्द्ध के इक्कीसवें अध्याय के पन्द्रहवें से पैंतालीसवें श्लोक तक तथा श्रीमद्भागवत् के स्कंध दस अध्याय

उनीस से बत्तीस तक पर अवलम्बित हैं। कृष्णभक्ति से संबंधित कवियों ने भी इसी आश्रय को स्वीकार कर अपनी प्रतिभा के बल पर कृष्ण की इस लीला को आकर्षक एवं सौन्दर्यमूलक बनाया है।

मथुरा में श्रीकृष्ण ने कंस का उद्धार किया और लोकरक्षक रूप में प्रतिष्ठित हुए। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने `कंसवध` [सन् १८७८ ई०] में इसी प्रसंग को साकार रूप प्रदान किया है। श्री विष्णुपुराण के अनुसार, "राज्य के करों को अदा करने के लिए अधिकांश दूध का मक्खन और घी बनाकर बड़े नगरों में भेज दिया जाता था, जिससे सामान्य जनता को छाछ के अतिरिक्त दूध का एक छोटा अंश भी मिलना कठिन हो गया था। भगवान कृष्ण ने जन्मकाल से ही ब्रज ग्रामों में निवास करके इस तथ्य की वास्तविकता को भली प्रकार समझ लिया और कुछ बड़े होते ही जनता में इसके विरोधी भाव फैलाने प्रारम्भ कर दिए। वे सक्रिय रूप से भी दूध और मक्खन को नगरों में भेजे जाने का प्रतिकार करते थे। इन्हीं कारणों से कंस और उसके अधिकारीगण कृष्ण जी से शत्रुता मानने लगे और उन्होंने छल-बल से अनेक बार उनकी हत्या के लिए प्रयत्न किये। पर अपनी लोकोत्तर प्रतिभा और शक्ति द्वारा उन्होंने शत्रु के गुप्त और प्रकट सभी आक्रमणों को सहज में निष्फल कर दिया। उनके ये कार्य साधारण जनता में चमत्कारों की तरह प्रसिद्ध हो गए और अंत में जब उन्होंने कंस को मारकर उसके अन्यायी शासन का अन्त कर दिया और छोटे-बड़े सभी लोग दमन और अत्याचारों से छुटकारा पा गये तो कृष्ण जी एक महान् दैवी शक्ति के रूप में पूजे जाने लगे।"[१] कंस-वध के उपरान्त श्री कृष्ण नंद जी को ब्रज वापस भेजते हैं, इस प्रसंग का मार्मिक चित्रण पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने `नन्द विदा` नाटक [सन् १९०० ई०] में किया है।

मथुरा-प्रवास अवधि में श्रीकृष्ण निरन्तर ब्रज-जीवन का स्मरण करते रहे। गोपियों के समाचारों की जानकारी एवं उद्धव के निर्गुण ज्ञान के अद्वैतवादी विस्तार

१- श्री राम शर्मा [टीकाकार] -- विष्णुपुराण [प्रथम खण्ड], पृ० २१।

को समूल नष्ट करने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने उद्धव को ब्रज भेजा । भारतेन्दु युग में इस प्रसंग पर श्री विद्याधर त्रिपाठी ने `उद्धव वसीठिका नाटक` [सन् १८८७ ई०] एवं गोवर्द्धन गोसाईं ने रास-शैली पर `उद्धव लीला नाटक` [सन् १८८६ ई०] की रचना की ।

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण की कथा ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है । इसी कथा का आधार लेकर पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने `रुक्मिणी हरण` [सन् १८७६ ई०] एवं पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने `रुक्मिणी परिणय` [सन् १८६४ ई०] नाटक की रचना की । हरिऔध जी के नाटक में नारद का आगमन लोकवृत्ति का सहज परिचय देता है ।

भगवान् कृष्ण ने राम की भांति ही अपने भक्तों को स्वर्गिक सुख प्रदान किया और मित्र-पक्ष के प्रति सद्भावना व्यक्त की । शत्रु के मानस में निहित शत्रु-भावना का परिष्कार करने के उपरान्त उसको भी अपनी भक्ति-भावना से विभूषित कर लिया । कृष्ण द्वारा द्रौपदी की रक्षा एक लोकप्रचलित घटना है । यह लोक प्राणी को सम्बल प्रदान करने के साथ ही अपने इष्टदेव के प्रति घनिष्ठतम रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती है । गजराज सिंह ने "द्रौपदी वस्त्रहरण" [सन् १८८५ ई०] में भगवान् के प्रजावत्सल एवं रक्षक रूप का चित्रण किया है । श्री बन्दीदीन दीक्षित एवं मातादीन के संयुक्त रूप से लिखे गए `सुदामा चरित्र` [सन् १८७६ ई०] तथा श्री शिवनन्दन सहाय के `कृष्ण सुदामा नाटक` [सन् १८६० ई०] में मित्र-भावना का सहज एवं प्रभावी रूप अवतरित किया गया है । यह प्रसंग भी लोक में अत्यधिक प्रख्यात है । जब भी सच्ची मित्रता निर्वाह का उल्लेख होता है, इस प्रसंग की भाव प्रवणता के साथ आवृत्ति की जाती है ।

भगवान कृष्ण की संतति को आधार बनाकर भी नाट्य रचना इस युग में की गई । भारतेन्दु जी ने धनंजय विजय [सन् १८७४ ई०] एवं पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने `प्रद्युम्न विजय व्यायोग [सन् १८६३ ई०] नाटक की रचना की । अनिरुद्ध और उषा की प्रेमकथा ने नाटककारों को प्रभावित किया,

परिणामत: श्रीचन्द्र शर्मा [सन् १८८७ ई०], श्री कार्तिकप्रसाद खत्री [सन् १८९१ ई०] और श्री हरणनाथ [सन् १८९१ ई०] ने `उषाहरण` नाटक रचे, जिनमें अनिरुद्ध और उषा के लोक प्रचलित प्रेम को मनोस्पर्शी अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

कृष्णभक्ति धारा के अन्तर्गत उल्लिखित उपर्युक्त नाटक सचमुच एक ~~व्यापक~~-प्राचीन एवं व्यापक परम्परा का अनुसरण करते हैं। `ऊपरले शास्त्रीय वर्ग से छन कर ये कथाएं बराबर लोकभाषा के साहित्यकारों तक पहुंचती रही हैं और उनमें व्याप्त धर्मभावना के कारण सामान्य जनता के बीच उनका प्रचार और प्रसार होता रहा है।`[१]

भारतेन्दुयुगीन कृष्णकथापरक नाटकों में लोकरंजक नायक कृष्ण के जीवन के विविध प्रसंगों को अभिव्यक्ति मिली है, जिसमें नाटककारों की गहरी मानवीय संवेदना भी आत्मसात हो गई है। अत: नाटकों का प्रभाव-क्षेत्र व्यापक हो गया है और नाटककार अपने अभीष्ट उद्देश्यों को लोकमानस तक सम्प्रेषित करने में सम्बल प्राप्त कर सका है।

कौरव-पाण्डव कथापरक नाटक

कौरव-पाण्डवों की धर्मकथा लोकजीवन को सदैव प्रेरणा प्रदान करती रही है। शौर्य एवं पराक्रम के प्रतीक अभिमन्यु को नायकत्व प्रदान करके श्री शालिग्राम वैश्य ने `अभिमन्यु` [सन् १८९६ ई०] नाटक की रचना की। आचार्य भट्टनायक ने दर्शक में रस की अवस्थिति मानी है और आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मत पर अपने अकाट्य मत द्वारा मान्यता प्रतिपादित की है, अत: नाट्य में रस-परिपाक की दृष्टि से दर्शक वर्ग को ही अनिवार्य रूप से महत्व मिला है। अपनी धर्मपत्नी उत्तरा और माता सुभद्रा से विदा प्राप्त कर कुमार अभिमन्यु युद्ध-क्षेत्र के लिए

१- डा० रवीन्द्र `भ्रमर` -- हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, पृ० ४७।

प्रस्थान करते हैं, तो यह दृश्य मनोगत भावों को सहज रूप से प्रभावित करता है। नाटककार ने सजग चित्रण द्वारा इस स्थल को करुण-रस से ओतप्रोत कर दिया है। रणभूमि में अभिमन्यु कौरवों के व्यूह में उलझ जाने के कारण आक्रामक स्थिति का सामना करने के साथ ही अपने पारिवारिक प्रिय जनों का स्मरण करता है। इस सहज कारुणिक स्थिति के साथ ही वीर और रौद्र रस को भी समुचित स्थान मिला हो, जो कथानक के विकास में मूल परम्परा की रक्षा करते हुए विकास में साधक हुई है। अप्सराओं के गीत, देववाणी और राक्षस-राक्षसी के प्रसंगों के समावेश से दर्शकों की जिज्ञासा-वृत्ति विकसित की गयी है, ताकि कथा के मर्म को सुविधापूर्वक आत्मसात किया जा सके।

अभिमन्यु के उपरान्त महाभारत में द्रौपदी की चारित्रिक गरिमा का महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया गया है। द्रौपदी के चरित्र ने जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया है। यह प्रसंग मान्यता रखता है कि कष्ट की अवधि में भगवान निश्चित रूप से अपने भक्त की रक्षा करते हैं। राम प्रभु लाल ने `द्रौपदी वस्त्र हरण` [सन् १९६९ ई०] में इसी प्रसंग को नाटकीय स्वरूप प्रदान किया है। महाभारत के काव्यांशों का प्रयोग करके नाटककार ने अपने कथानक का विकास किया है। पौराणिक प्रसंगों की अवतारणा में आकाश-मार्ग से व्यास का आगमन अप्सराओं का आवागमन एवं आकाशवाणी प्रमुख हैं। बाबू लक्ष्मी-प्रसाद ने भी `द्रौपदी` [सन् अज्ञात] नाटक में इसी कथानक को स्थान दिया है। अर्जुन महाभारत के एक आदर्श तथा प्रभावोत्पादक महापुरुष हैं। उनकी चारित्रिक गरिमा को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए श्री शालिग्राम वैश्य ने `अर्जुन मद मर्दन` [सन् अज्ञात] नाटक की रचना की। पं० बालकृष्ण भट्ट कृत `बृहन्नला` नाटक लोकमानस को वीर-भावना से परिपूर्ण करने में सहायक है। द्यूतक्रीड़ा में पराजित होने के उपरान्त अज्ञातवास की अवधि में पाण्डव छद्मवेश में महाराज विराट् के यहाँ आश्रय प्राप्त करते हैं। अर्जुन बृहन्नला के नाम से एक नपुंसक पात्र के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। युधिष्ठिर कंक भट्ट के नाम से महाराज विराट् के परामर्श-सहयोगी बन जाते हैं। भीम, नकुल और सहदेव का क्रमशः वल्लभ, अश्वपाल और गोपाल नामकरण हो जाता है। एक दिन

कौरव विराट् नगर पर आक्रमण कर देते हैं। युद्ध के लिए प्रस्तुत कुमार उत्तर के मन से भय निष्कासित कर बृहन्नला आश्वस्त करता है और जब उसके भय की स्थिति प्रबल रूप धारण कर लेती है तो वह अपना वास्तविक नाम अर्जुन बता देता है। भयंकर युद्ध में कौरव जब पराजित होकर भागते हैं, तो भीष्म अर्जुन को आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

महाराज विराट् जब त्रिगर्ताधिप से युद्ध करने के उपरान्त वापस आते हैं तो पुत्र के युद्ध-गमन का समाचार पाकर दुःखी होते हैं। कंक भट्ट आश्वासन देते हैं कि बृहन्नला की उपस्थिति के कारण चिन्तामुक्त रहें। इसी बीच विराट् अप्रत्याशित विजय का समाचार पाकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। कंक भट्ट समझाते हैं कि विजय-श्री का श्रेय बृहन्नला को है। राजा विराट् क्रुद्ध होकर जुए के पासे से कंक को आघात पहुंचाते हैं। इतने में कुमार उत्तर उपस्थित हो जाता है और पिता की अदूरदर्शिता की भर्त्सना करता है। सारी स्थिति से अवगत होने के अवगत होने के उपरान्त विराट् अपनी भूल स्वीकार करते हैं और अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ सम्पन्न करते हैं। इस नाटक में अर्जुन का चरित्र पूर्णतः विकास पा सका है। भट्ट जी ने परम्परा से प्राप्त महाभारत की इस कथा को चार अंकों के इस नाटक द्वारा लोकप्रिय बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। कथा के सहज शुद्ध रूप को ही भट्ट जी ने संरक्षण प्रदान किया है क्योंकि "अपनी ओर से अपने काल की समस्याओं को भी उस (बृहन्नला नाटक) पर आरोपित करने का यत्न उन्होंने नहीं किया है।"[1]

कर्ण के चरित्र को श्री विष्णु गोविन्द शिरवाडकर ने 'कर्ण-पर्व' (सन् १८७६ ई०) में अभिव्यंजना प्रदान की है।

महाभारत के कौरव-पाण्डव से सम्बन्धित उपर्युक्त नाटकों में भारतेन्दु युग के नाटककारों ने महाभारत की परम्परा से प्राप्य कथा के स्वरूप का किया है, जिससे लोक का प्राणी चारित्रिक गरिमा के साथ ही प्राचीन संस्कारों के सूत्रों को आत्मसात करने में सफल हो सका है।

१- डा० राजेन्द्र शर्मा -- हिन्दी गद्य निर्माता : बालकृष्ण भट्ट, पृ० ४१६।

पातिव्रत-धर्मी कथापरक नाटक

लोक जीवन पतिव्रता नारियों के जीवन-वृत्त से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने प्राचीन आदर्शों के माध्यम से युगीन वातावरण को प्रांजल बनाने का प्रयास किया है। सत्यवान-सावित्री की कथा ने भारत को एक अलौकिक दिशा प्रदान की है। भारतेन्दु का सती प्रताप [सन् १८८३ ई०] अपूर्ण होते हुए भी यह परिलक्षित करता है कि वे इस नारी-चरित्र को लोक तक सम्प्रेषित करने के लिए प्रयत्नशील थे। बाबू कन्हैयालाल के 'शील-सावित्री' [सन् १८९७ ई०] ने भारतेन्दु के अभियान की पूर्ति की। इसमें प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि शास्त्रीय-परम्पराओं का अनुसरण न कर सावित्री के जीवन-प्रसंगों को अलौकिकता से परिपूर्ण किया गया है। यमराज, नारद, आकाशवाणी, गौतम का तपोबल सभी की समुपस्थिति है।

श्री देवराज के 'सावित्री नाटक' [सन् १९०० ई०] में पौराणिक प्रसंगों को गौण रूप प्रदान किया गया है, क्योंकि यम के वरदान का ही लोकविश्वास के अनुकूल प्रयोग किया गया है। अतः नाटककार लोकतत्व से अपने को मुक्त नहीं कर सका है। इस नाटक के सन्दर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि सावित्री के चरित्र के माध्यम से नाटककार युगीन विचारधारा को लोकमानस में प्रविष्ट कराना चाहता है।

सावित्री की ही भांति 'सती सुलोचना' से सम्बन्धित कथा के आधार पर नाट्य रचना की गई है। श्री बल्देव जी अग्रहरि ने सुलोचना सती [सन् १८८७ ई०] की रचना की। इस नाटक में नाटककार ने सुलोचना की कथा का मात्र बाह्य रूप ग्रहण किया है और सामयिक विचार प्रक्रिया को अधिकाधिक स्थान दिया गया है। पौराणिकता के प्रवेश के आधार पर यह निश्चित है ही कि यह नाटक लोकोन्मुखी है। नाटककार ने सूत्रधार के द्वारा विचार व्यक्त किया है --"प्रिये, कल्ह ही सुनाया था कि अनुसूया जगाहिर सी अनेकानेक पतिव्रता विदुषी वीर भारत की अटल निज धर्म पर ही वो अलग रहकर कुकर्मों से परम आनन्द पातिव्रत

धर्म से मुक्ति को पाई है -- ग्रहण करना वही शिक्षा तो होगी मार्गदर्शक वह ।"

भारतेन्दु युग में पतिव्रता दमयन्ती की कथा ने काव्य एवं नाटक दोनों विधाओं को समानगति से प्रभावित किया है । पं० बालकृष्ण भट्ट का `दमयंती स्वयंवर`[1] नाटक महाकवि हर्ष के नैषध महाकाव्य पर आधारित है । इस एक अंक के नाटक में स्थान-स्थान पर मूल काव्य का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है । इस कथानक में भट्ट जी ने अपनी ओर से कुछ न समाविष्ट करके कथा के मूल रूप की रक्षा की है । भट्ट जी ने भीम द्वारा यह सन्देश दिया है --"[दमयंती से] -- धन्य है तेरा सौभाग्य ! तूने अपने सतीत्व के प्रताप से अपना खोया हुआ प्राणधन पुनः पाया ।"[2]

श्री सुदर्शनाचार्य ने `अनर्घ नल चरित्र` [सन् १८९३ ई०] में नल-दमयन्ती के दाम्पत्य-जीवन के हृदयग्राही चित्र अंकित किए हैं ।

पौराणिक देवताओं में परम्परा से हनुमान का लोकजीवन में विशिष्ट स्थान रहा है । हनुमान के पिता पवन और माता अंजना -- पौराणिक पात्रों को समाविष्ट कर श्री कन्हैया लाल ने `अंजना सुंदरी नाटक` [सन् १८९६ ई०] की रचना की है । लोक में पर्याप्त महत्व प्राप्त करने वाले पातिव्रत धर्म की गरिमा एवं प्रतिष्ठा ही नाटककार का लक्ष्य है । सीता और दमयन्ती के समकक्ष ही अंजना को विवाहोपरान्त अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा दोनों का शुभ-मिलन होता है । वन में ही हनुमान जी का जन्म होता है । इस पौरा-णिक नाटक की भूमिका में नाटककार ने लिखा है -- `शील सावित्री नाटिका` जो कि मेरी प्रारम्भिक रचना है -- इस कथा ने लोकमानस के बीच अपार प्रतिष्ठा प्राप्त की है । भारतीय युवतियों के लिए इस कथा के प्रसंग अनुकरणीय रहे हैं ।

१- धनंजय भट्ट `सरल` [सम्पादक] -- दमयंती स्वयंबर ।
२- वही, पृ० ७४ ।

अतएव, लोकमानस के समक्ष अंजना-सुंदरी कथा का नाट्य रूपांतर मैंने प्रस्तुत किया है ताकि वह अधिक प्रेरक रूप में गृहीत हो सके।"[१]

हरितालिका तीज व्रत पतिव्रता नारियों का प्रमुख पर्व है। इस अवसर पर सौभाग्यवती पातिव्रत धर्म से सम्बन्धित कहानियों का अध्ययन-श्रवण करती हैं। साथ ही अपने पति के मंगलमय जीवन की अभिलाषा इष्टदेव से समक्ष व्यक्त करती हैं। लाला खड्गबहादुर मल्ल ने इसी लोक-पर्व को 'हरितालिका नाटिका' [सन् १८८७ ई०] में समुचित स्थान प्रदान किया है। पातिव्रत धर्म कथापरक नाटकों में भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने जिन पतिव्रता नारियों के यश को अभिव्यंजित किया है वे भावप्रवण लोक-प्राणी को पुरातन सूत्रों से सम्बद्ध करने में सहायक रहे हैं साथ ही लोकबोध के अनुकूल उसे उद्दाम दिशा मिली है।

लोकप्रसिद्ध भक्त कथापरक नाटक

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने भक्तों की लोकप्रचलित कथाओं का आधार लेकर अनेक नाटकों की रचना की। जिन भक्तों की कथाओं ने भारतेन्दु युग के नाटककारों को प्रेरणा दी उनमें प्रह्लाद, ध्रुव, गोपीचन्द, भर्तृहरि, नहुष, हरिश्चन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

१- " Since the publication of my primary work ' Shil Savitri Natika' having found that it has met the appreciation of the men of leading and light as an instructive story for the young women of India, I have been chereshing innumerable new ideals for the betterment of the moral condition of the fair-sex, and in order to lay them public as an interesting drama, I have selected this story so that it may be both novelty and didactic."

दैत्यराज हिरण्यकश्यप के उपरान्त प्रह्लाद का राज्याभिषेक हुआ और उन्होंने सत्यनिष्ठा पूर्वक राज्य किया।[1] इस प्रतिष्ठापूर्ण पद की प्राप्ति उन्हें विष्णु भगवान की भक्ति से हुई थी। प्रह्लाद की भक्ति का लोकजीवन में परम्परा से विशिष्ट स्थान रहा है। अतएव विवेच्य-युग के लेखकों का ध्यान स्वाभाविक रूप से प्रह्लाद के उज्ज्वल चरित्र की ओर आकृष्ट हुआ। भारतेन्दु युग में भक्त प्रह्लाद के जीवन-वृत्त का आधार ग्रहण करके पांच नाटक रचे गए -- श्रीनिवासदास कृत `प्रह्लाद चरित्र` [सन् १८८८ ई०], श्री जगन्नाथशरण कृत `प्रह्लाद चरितामृत` [सन् १९०० ई०], श्री महाराजदीन कृत `प्रह्लाद चरित्र` [सन् १९०० ई०], श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या कृत `प्रह्लाद नाटक` [सन् १८७४ ई०] और श्री रामगया प्रसाद दीन कृत `प्रह्लाद नाटक` [सन् १८८२ ई०]। इन सभी नाटकों में नाटककारों ने भक्त प्रह्लाद की प्रख्याति को अभिव्यक्ति दी है।

प्रह्लाद के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित उपर्युक्त नाटकों में पर्याप्त एकरूपता है। नाटककारों का लक्ष्य उसी लोकप्राणियों के समक्ष भक्त प्रह्लाद के कथा-प्रवाह को नाट्य रूप में प्रस्तुत कर उन्हें भाव-विह्वल कर धर्म के प्रति आस्थावान करना रहा है। `प्रह्लाद चरितामृत` में नाटककार ने `विनयपत्रिका` के पदों का उपयोग किया

१- स यदा निहतो रौद्रो हिरण्यकशिपुर्नृप।
अभिषिक्तस्तदा राज्ये प्रह्लादो नाम तत्सुत: ।। १
तस्मिन्शासति दैत्येन्द्रे देवब्राह्मणपूजके।
मखैर्भूमौ नृपतयो यं यजंत: श्रद्धयान्विता: ।। २
ब्राह्मणाश्च तपोधर्मतीर्थयात्राश्च कुर्वते।
वैश्याश्च स्वस्ववृत्तिस्था: शूद्रा: शुश्रूषणरता: ।। ३
नृसिंहेन च पाताले स्थापित: पुरा: सो थ दैत्यराट्।
राज्यं चकार तत्रैव प्रजापालन तत्पर: ।। ४
[श्रीराम शर्मा :टीकाकार: -- देवी भागवत पुराण, पृ० २६१]

है और `प्रह्लाद चरित्र` की प्रस्तावना विष्णु लोक के द्वारपार जय-विजय को श्राप देने से सम्बन्धित है, जो स्वयं एक कथा का रूप प्रस्तुत करती है। `प्रह्लाद नाटक [मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या] में ब्रिटिश शासन पर व्यंग्य भी लेखक का विशिष्ट ध्येय है। इस प्रकार ये नाटक एक ही कथा पर आधारित होते हुए नाट्य-शिल्प की प्रभावशीलता की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखते हैं।

भारतेन्दु युग में ध्रुव के जीवन को भी नाटकों द्वारा व्यक्त किया गया। श्री दामोदर शास्त्री के `बाल खेल` या `ध्रुवचरित्र` [सन् १८८६ ई०] में बालकों के मानस में ध्रुव के बाल-जीवन के कथा-वैशिष्ट्य को प्रविष्ट कराने का प्रयास किया है। सीताराम कृत `ध्रुव तपस्या` [सन् १८९५ ई०] नाटक में पौराणिक प्रसंगों का समावेश प्रचुरता के साथ हुआ है। नाटककार की यह प्रबल इच्छा है कि अपार जनसमूह किसी न किसी प्रकार ध्रुव के समान अविचल भक्ति में संलग्न हो जाए। श्री शालिग्राम वैश्य ने `मोरध्वज` [सन् १८८८ ई०] की भूमिका में उल्लेख किया है कि "इस नाटक में भक्ति, प्रेम, वीरता, करुणा, भयानक, ~~कन्कि~~ वीभत्स, अद्भुत, शान्ति आदि रस ऐसे झलकाए गए हैं कि मानों वे आपस में वार्तारत हैं। इस नाटक के लिखने से मेरा अभिप्राय है जो हमारे प्राचीन राजे धर्म धारण करते थे, उस समय को इस समय से मिलाने से महान् अन्तर विदित होता है, अतएव इस समय वचनबद्धता, वीरता, शस्त्रविद्या, तो भारतवर्ष से सर्वत्र नष्ट हो गयी है अरु दिन रही सही भी नष्ट होती चली जाती है, अब आशा करता हूँ कि इस नाटक के देखने से कुछ कुछ मनुष्य अपने पुरुषाओं के कर्तव्य अरु वचनबन्धता को स्मरण करके किंचिन्मात्र भी उनके लालन-पालन में कटिबद्ध होंगे तो उस समय मेरा भी मनोरथ अरु परिश्रम सफल होगा।" मोरध्वज के निधन के उपरान्त माता-पिता एवं पत्नी के विलाप में निश्चित रूप से दर्शकों के मानस को करुण रस से ओतप्रोत कर दिया होगा।

संत गोपीचन्द और भर्तृहरि को पौराणिक महापुरुष की श्रेणी में स्थान मिल गया है। पुराण-साहित्य में इनका उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु जनगाथाओं में इन, ~~महापुरुषों के विवरण प्रचुरता के साथ मिलते हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य~~

चूंकि कथानक पौराणिक हैं, अत: कुतूहलजनक घटनाओं को नाटककारों ने प्रयुक्त किया है। इस कथा-प्रसंग के माध्यम से नाटककार लोकसमूह के समक्ष भक्ति एवं सत्यनिष्ठा के स्वरूप तथा प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते थे। अत: लोकवार्ता के तत्वों को समाविष्ट करना अनिवार्य हो गया। "किसी साहित्यकार को जब भी जनता के निकट जाने की आवश्यकता पड़ी है, जब उसने लोकजीवन को किसी प्रकार का धार्मिक, सामाजिक अथवा कोई अन्य उपदेश देना चाहा है, तो उसने अपने साहित्य को लोकवार्ता के तत्वों से अभिमंडित करके उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है।"[1]

भक्त प्रह्लाद की भांति ही भक्त ध्रुव का यश भी लोक जीवन में व्याप्त है। लोक का व्यक्ति पारिवारिक धार्मिक एवं नैतिक मानदण्ड उत्कृष्ट बनाने के लिए बहुधा इस कथा का आश्रय लेता है।[2] बालकों के जीवन परिष्कार में इस कथा का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारतेन्दु युग के नाटककारों ने भक्तप्रवर महापुरुषों के विवरण प्रचुरता के साथ मिलते हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि यदि किसी व्यक्ति ने कोई लोकोपयोगी कार्य किया तो लोक का प्राणी उसके कार्य-रूप को आश्चर्य-जनक परिधान से पूर्ण करके भावी पीढ़ी के समक्ष प्रस्तुत करता है, ताकि उच्चादर्शों

१- डा० रवीन्द्र 'भ्रमर' -- हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, पृ० ६।

२- मनस्यवस्थिते तस्मिन्विष्णौ मैत्रेय योगिन:।

न शशाक धराभारमुद्वोढुं भूत धारिणी ॥८

वामपादस्थिते तस्मिन्ननामार्द्धेन मेदिनी।

द्वितीयं च ननामार्द्धं क्षितेर्दक्षिणत: स्थिते ॥ ९

पादांगुष्ठेन सम्पीड्य यदा वसुधां स्थित:।

तदा समस्ता वसुधा चचाल सह पर्वतै: ॥ १०

नद्यो नदा: समुद्राश्च संक्षोभं परमं ययु:।

तत्क्षोभादमरा क्षोभं परं जग्मुर्महामुने ॥ ११

--श्रीराम शर्मा [टीकाकार] -- विष्णुपुराण खंड-१, पृ० १२९।

को इस प्रसंग के माध्यम से आत्मसात किया जा सके। इस आधार पर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि पौराणिक महापुरुषों को सर्वप्रथम लोक में मान्यता मिल चुकी थी, इसके उपरान्त उनके जीवन-वृत्त पर आधारित साहित्य रचा गया। "प्राचीन अवदान में इतिहास के ही ध्वंस विलुप्त होने से नहीं बच रहे, वरन् आधुनिक युग के भी पुरुषों के वृत्त अद्भुत रूप में प्रस्तुत हैं। भारत में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनमें एक साधारण-सा व्यक्ति किसी असाधारण घटना के कारण पूज्य बन गया है।"[१]

लोकगाथा तथा पुराणगाथा की वस्तुत: इसी विवेच्य महत्ता के कारण पौराणिक गाथाओं की उत्पत्ति लोकगाथा से मानी गयी है। क्योंकि "धर्मतत्व का लोकवार्ता से गहरा सम्बन्ध है। धर्म की नींव लोकविश्वास है। यह लोकवार्ता से गुंथा हुआ ही विकास पाता है। धर्म का वास्तविक मूल लोक-वार्ता में सन्निहित आदिम मूल विश्वास ही होता है।"[२] अत: यह कहना सार्थक होगा कि धर्मतत्व के मूल और विकास को बिना लोकतत्व के निरूपित नहीं किया जा सकता है।

संत गोपीचन्द के जीवन पर आधारित तीन नाटकों की रचना भारतेन्दु युग में हुई। अण्णाजी इनामदार के `गोपीचंद नाटक' [सन् १८६६ ई०] में स्थानीय बोली का प्रयोग किया गया है। डा० गोपीनाथ तिवारी ने भी इस नाटक का उल्लेख इस प्रकार किया है --"पौराणिकता बहुत है -- १-जलंधर खाई में घोड़े की लीद से कई दिन तक ढका रहकर भी जीवित रहा, २-गोरख ने कहा -- आम नीचे आ। आम की क्या शक्ति जो आज्ञा न माने, तुरन्त नीचे आ गया। कानिफा ने कहा -- आम ऊपर जा। बेचारा आम ऊपर चला गया, ३-कच्चे धागे पर गोरखनाथ चढ़ गये, ४-लोहे का पुतला हुंकार और शाप से भस्म हो गया। मुसलमानी दरबारों की नाई चोबदार जोर से पुकारता है। `बास्ते अदं,मुलाकात

१- डा० सत्येन्द्र -- लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० २००-२०१।

२- वही, पृ० ७१।

से करें, तफ़ावत है बाजू से निगा रखो मेहरबान ।"[१] सखाराम बालकृष्ण सरनायक ने 'गोपीचंद' [सन् १८८३ ई०] में इसी कथानक का आश्रय लिया है ।

अभी तक के प्राप्त विवरणों एवं खोज के उपरान्त भारतेन्दु युग में मात्र एक नाट्य-लेखिका का विवरण उपलब्ध होता है और वे हैं -- श्रीमती लाली । श्रीमती लाली का 'गोपीचन्द' नाटक [सन् १८९३ ई०] का कथानक प्रौढ़ एवं परिष्कृत है । कथा में उत्सुकता सर्वत्र बनी रहती है । दृश्य-योजना उनके रंगमंच के प्रति निष्ठा को व्यक्त करती है । पौराणिकता का निर्वाह प्रारंभ से अंत तक किया गया है । नाटक के प्रारम्भ में कैलाश पर महादेव पार्वती, वीरभद्र, मछिन्द्र-नाथ, भूतपति और भृंगी ध्यानमग्न विराजमान रहते हैं । कुन्दनसेन तोता के रूप में परिवर्तित हो जाता है । मात्र डंडे के संकेत से ही भयभीत होकर यमपुरी के नर्क का भयावह दृश्य समुपस्थित हो जाता है, जिसमें सर्प, बिच्छू, गीध आदि प्रकट हो जाते हैं । अंकावतार में इन्द्र, यम, वरुण, तिलोत्तमा, उर्वशी और गंधर्व का आगमन होता है । श्रीमती लाली ने इस नाटक की भूमिका में स्पष्ट करते हुए लिखा है --"इस नाटक की कथा सर्वसाधारण को विदित है और इस उपाख्यान के सांगीत अनेक महाशयों ने बनाये हैं कि जिनका खेल होली के समय मेरठ, मुरादाबाद, अमरोहा, संभल और बदाऊं आदि नगरों में हुआ करता है । बम्बई की गुजराती नाटक मण्डली भी इस उपाख्यान के खेल को बड़ी उत्तमता से करती है ।" इस नाटक में धर्म की आड़ में ठगी का चित्रण करके झूठे योगियों की पोल खोल कर योग पर सर्वाधिक ~~बल~~ बल दिया गया है, "माया रूपी मद से मोहित हुए मनुष्य भक्ति रूपी अमृत की उत्तमता को नहीं समझते ।..... तन को योगी का वेष देने की अपेक्षा मन को योगी का वेश देना सहस्र गुण उत्तम है ।" नाट्य-लेखिका ने लोकधर्म के सहज एवं स्वस्थ रूप को जनमानस के समक्ष जनमानस में व्याप्त कथानक के आधार पर प्रस्तुत किया है । यही कारण है कि वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकी हैं ।

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १५६ ।

भर्तृहरि के जीवन-प्रसंगों का आधार ग्रहण कर श्री श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने 'महाराज भर्तृहरि' [सन् १८७८ ई०] नाटक की रचना की ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र उपनाम श्री गिरिधरदास का 'नहुष'[१] नाटक हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है । राजा नहुष की कथा महाभारत के उद्योग पर्व तथा अनुशासन पर्व पर्वों में विस्तृत रूप से है । कथासार यह है कि चंद्रवंशीय राजा नहुष राजा आयु के पुत्र हैं । उन्होंने अपने तप, यज्ञ आदि द्वारा उस समय इन्द्रत्व प्राप्त कर लिया था, जबकि वृत्रासुर को मारने से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी तथा इन्द्रासन रिक्त हो गया था । इन्द्राणी शची पर मोहित होकर जब प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो गई, तब शची ने यह प्रस्ताव रखा कि वह सप्तर्षियों को रथ में जोतकर जब आयगा, तभी वह नहुष को स्वीकार करेगी । राजा नहुष ने यथावत् किया, किन्तु शीघ्रता के कारण अगस्त्य ऋषि ने शाप दे दिया और वह सर्प रूप में हो गया । नहुष सर्प रूप में दस लाख वर्षों तक पृथ्वी पर आसीन रहे । नहुष के अनुनय-विनय पर ऋषि ने कहा कि जब तुम्हारे वंश में युधिष्ठिर नामक राजा होगा , तब उन्हीं की कृपा से तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी । वनवास के समय सर्प ने भीम को पकड़ लिया । युधिष्ठिर ने जब भीम को मुक्ति प्रदान करने के लिए प्रश्न किया, तब उनके समक्ष सम्पूर्ण वृत्त प्रस्तुत कर दिया । इसी के अनन्तर मुक्ति पाकर वे स्वर्ग चले गये । इस नाटक में प्रस्तावना तथा छह अंक हैं । देवी भागवत पुराण में भी नहुष को इन्द्रपद प्राप्ति एवं नहुष का पतन के अन्तर्गत यही कथा उपलब्ध होती है,[२] जो कथा के लोकप्रचलन एवं प्राचीन स्वरूप का स्पष्टीकरण करती है ।

१- व्रजरत्नदास [सम्पादक] -- नहुष नाटक, पृ० २१ से १०१ तक ।

२- कान्ति प्रमुक्तास्तस्य श्रुत्वा वाक्यमसत्वरम् ।
कौशिकश्च भावित्वात्कृपया परमर्षय: ॥ ४२
अंगीकृते च तद्वाक्ये मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभि: ।
मुदं प्राप नृप: कामं पौलोमीकृतमानस: ॥ ४३

-- शेष आगे पृष्ठ पर ----------

नहुष की भाँति ही पौराणिक व्यक्तित्व हरिश्चन्द्र का प्रमुख स्थान है। एक सीमा तक यह कहना सार्थक होगा कि हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व ने जनमानस को अधिकाधिक प्रभावित किया है। महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' में हरिश्चन्द्र के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। उनसे पहले हरिश्चन्द्र का नाटक देखने से ही उनकी हृदयभूमि में सत्यप्रेम का पौधा बोया गया था, जो समय और परिस्थिति से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अन्त में समस्त भारतीय समाज को अपनी प्राण-दायक छाया में लाने में समर्थ हुआ।

मार्कण्डेय पुराण तथा देवी भागवत पुराण में हरिश्चन्द्र की कथा का विवरण प्राप्त होता है। 'हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र का उपाख्यान' तथा हरिश्चन्द्र के 'सत्य की परीक्षा' के अन्तर्गत मार्कण्डेय पुराण में यह दिखलाया गया है कि मनुष्य सत्यव्रत का पालन करते हुए कहाँ तक दृढ़ता रख सकता है? और फिर उसी के आधार पर कैसे उच्च से उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है। इस उपाख्यान में राजा हरिश्चन्द्र की जैसी घोर दुर्दशा दिखलाई गई है और विश्वमित्र को जिस नृशंस रूप में चित्रित किया गया है उससे अस्वाभाविकता आ गई है, किन्तु कथा रूप में करुण-रस के समावेश हो जाने से आत्मविह्वल हो

पिछले पृष्ठ का शेष ----

आरुह्य शिबिकां रम्यां संस्थितस्त्वरयान्वितः।
वाहान्कृत्वा मुनीन्दिव्यान्सर्प सर्पेति चाब्रवीत् ॥ ४४
कामार्तः सो स्पृशन्मूढ़ाः पादेन मुनिमस्तकम्।
कशया ता यामास पंचबाणशराहतः॥ ४५
तं शशाप मुनिः क्रुद्धः कशाघातमनुस्मरन्।
सर्पो भव दुराचार वने घोरनपुर्महान् ॥ ४६
बहुवर्षसहस्राणि तत्र क्लेशो महान्भवेत्।
एवं शप्तः स राजर्षिः स्तुत्वा तं मुनिसत्तमम् ॥ ४७
स्वर्गात्पपात सहसा सर्परूपधरो भवत्।
बृहस्पति स्ततो गत्वा तरसा मानसं प्रति ॥ ४८
[श्रीराम शर्मा :टीकाकार: -- देवीभागवत पुराण, पृ० ५०२।]

जाते हैं[१] और कहाँ तक वास्तविकता है ? कितना कथांश है ? इस ओर ध्यान करने का अधिक अवसर नहीं मिल पाता है। बाबू गोपालराम गहमरी ने अपने 'कुंभ की यात्रा' शीर्षक लेख में प्रसंगवश लिखा था --"बयालीस वर्ष पहले की बात है, जब काशी के बाबू हरिश्चन्द्र ने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था, जिसमें हिन्दी के सुलेखक --'दुखिनी बाला' लेखक बाबू राधाकृष्ण सरीखे हिन्दी सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवि ने पार्ट लिया था..... उसकी महिमा यूरोपियन लेडियाँ तक ने गाई थी। उस समय के कलेक्टर साहब की मेम ने आँसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेन्दु जी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है-- सीन बदला जाय तो इस पर सत्य हरिश्चन्द्र बने हुए भारतेन्दु ने स्वयं औवरएक्ट किया था और दर्शक मण्डली में करुणा के मारे त्राहि त्राहि मच गई थी।"[२]

१- कष्टं शैव्ययमेष हि बालो यमितीरयन्।
रुरोदद्:खसन्तप्तौमुच्छर्मिभिजगामच ॥ १६२

सावंतप्रत्यभिज्ञायतामवस्थामुपागतम्।
मूर्च्छिता निपपातार्ता निश्चेष्टाधरणीतले ॥ १६३

चेत: सम्प्राप्य राजेन्द्रौराजपत्नीचतौसमम्।
विलेपतु: सुसन्तप्तौशोक भारातिपीडितौ ॥ १६४

-- श्री राम शर्मा --[टीकाकार] -- मार्कण्डेय पुराण, पृ० १४६।

२- गोपाल राम गहमरी -- 'कुम्भ की यात्रा' -- 'आज' अप्रैल १८, सन् १९२७ ई०।

`मार्कण्डेय पुराण` में इस कथा श्रवण द्वारा होने वाले लाभ का भी विवरण दिया गया है।[1] भारतेन्दु ने अपने नाटक `सत्य हरिश्चन्द्र` [सन् १८७५ ई०] की भूमिका में चण्डकौशिक के नाटक का उल्लेख किया है। वास्तव में इस नाटक में चारित्रिक दृढ़ता के माध्यम से भारतेन्दु अपने लिए एक आदर्श रख रहे थे, उनकी वेदना को स्मरण करके वह अपने हरिश्चन्द्र नाम के व्यंग्य को समझा रहे थे। `सत्य हरिश्चन्द्र` नाटक में सूत्रधार ने उचित ही कहा है --

"जो गुन नृप हरिचंद में, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥"[2]

श्री चुन्नीलाल ने `सत्य हरिश्चन्द्र` [सन् १८८६ ई०] एवं कैलाशनाथ वाजपेयी ने `विश्वामित्र` [सन् १८६७ ई०] नाटक की रचना की। इन दोनों नाटकों के माध्यम से नाटककार हरिश्चन्द्र के प्रभावशाली व्यक्तित्व को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

१- तत्फलं त्रिगुणं चैव संख्यात्या श्रणोतियः।
श्रुत्वातु पूजयेद्भक्त्या पुराणं द्विजोत्तमम् ॥ ८१
गोभूहिरण्यवस्त्रैश्चतथै मान्नेन जैमिने।
ये नैवं यत्कृतं पुण्यं तत्कथयन मयोदितुम ॥ ८२
अहो तितिक्षामाहात्म्यमहोदानफलं महत्।
यदागतो हरिश्चंद्रः पुरीं वेन्द्रत्वमाप्तवान् ॥ ८३
एतवे सर्वमाख्यातंहरिश्चंद्रविचेष्टितम्।
यः शृणोति दुःखार्त्तसुख मह्दाप्नुयात् ॥ ८४
स्वर्गार्थीप्राप्नुयात्स्वर्गपत्रार्थी पुत्रमाप्नुयात्।
भार्यार्थीप्राप्नुयाद्भार्याराज्यार्थी राज्यमाप्नुयात् ॥ ८५
--श्रीराम शर्मा [टीकाकार] -- मार्कण्डेयपुराण, पृ० १६१

२- इस दोहे की रचना `जानकीमंगल` नाटक के लेखक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने की थी।

बाबू लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' [सन् अज्ञात] एवं देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'लक्ष्मी सरस्वती मिलन' [सन् अज्ञात] भी उल्लेखनीय पौराणिक नाटक हैं, जिनमें पौराणिक चरित्रों को मान्यता प्राप्त हुई है ।

लोकप्रसिद्ध भक्त कथापरक भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोकमानस के इष्टदेवों की चारित्रिक-गरिमा मार्मिक रूप से प्रस्तुत हुई है । लोकजीवन के विविध आयामों को ये लोकप्रसिद्ध भक्त अनेक स्तर पर संस्पर्श करते रहे हैं अतएव ये कथाएं नाट्य-रूप में अत्यन्त सजीवता ग्रहण कर सकी हैं और भारतेन्दुयुगीन नाटककार सजग होकर अपने उद्देश्यों को व्यक्त करने में समर्थ हो सके हैं ।

भारतेन्दुयुग के प्रेमगाथामूलक नाटकों की विविध धाराएं

धर्मगाथामूलक नाटकों के अनुशीलन के उपरान्त भारतेन्दु युग के प्रेमनाटकों का लोकमानस में महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया गया है । धर्मगाथामूलक नाटकों में प्रयुक्त धर्मगाथाओं के माध्यम से प्राचीन परम्परित पात्रों के जीवन-वृत्त को जन-समूह के समक्ष समुपस्थित कर जहां नाटककारों ने जनमानस को अनुरंजित - प्रभावित किया, वहीं प्राचीन प्रेम-कथानकों के आधार पर निर्मित नाटकों द्वारा नाटककारों ने प्राचीन-परम्परित लौकिक कथाओं को आश्रय प्रदान किया है । प्रेमाख्यानकों का मूल इस देश की प्राचीन लोकप्रचलित कहानियां ही हैं ।

ऐतिहासिक और धार्मिक तथ्य भी प्रेमगाथा को प्रभावित करते हैं । इतिहास का कोई महापुरुष जब अपने सत्कार्यों के कारण लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो उसके जीवन-वृत्त को कल्पनामंडित एवं आश्चर्यजनक विवरणों से आप्लावित कर लोक का व्यक्ति एक प्रेरक कथा निर्मित कर लेता है और वह कथा अपने विशिष्ट कुतूहलवर्द्धक गुणों के कारण लोक में अनन्तकाल तक जीवित रहती है । इसी प्रकार धार्मिक व्यक्तियों के जीवन प्रसंगों को प्रेमाख्यानक सूत्र से सम्बन्धित करके प्रेमगाथाओं का निर्माण कर लिया जाता है । विवेच्य युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'चंद्रावली'

नाटिका` में जहां एक ओर धार्मिक तत्वों को सन्निहित किया है, वहीं प्रेम-कथात्मक सूत्रों को भी विकसित किया है क्योंकि प्रेम जीवन की एक अविभाज्य वृत्ति है। परत कथानकों में उसकी अन्विति स्वाभाविक हो जाती है।

प्रेम को सुखान्त और दुखान्त दो विभागों में रूपायित किया गया है। भारतेन्दु युग में दोनों विभागों के अन्तर्गत नाट्य-रचना हुई है।

सुखान्त प्रेम-नाटक

भारतेन्दु युग में सुखान्त प्रेम नाटकों की ओर नाटककार सजग रहे हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने `प्रेम जोगिनी` [सन् १८७५ ई० अपूर्ण नाटक], चन्द्रावली [सन् १८७८ ई०] और `विद्यासुन्दर` [सन् १८६८ ई०] तीन प्रेमनाटकों की रचना की। `विद्यासुन्दर` को भारतेन्दु जी ने छायानुवाद माना है। बंगाल में लोक-प्रचलित कथा के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है। इस प्रेमकथा में नाटककार ने कुतूहलवर्द्धक प्रसंगों को विशेष रूप से मान्यता प्रदान की है। सुन्दर छद्म-वेश से वाटिका में आता है और हीरा मालिन के यहां रहता है। एक विशेष माला गूंथकर नायक नायिका के पास भेजता है। माला में गोपनीय रूप से पुष्प-निर्मित धनु-शर रख दिया जाता है। वाटिका से राजमहल तक नायक सुरंग बनाता है और एकाएक नायिका के समक्ष उपस्थित हो जाता है। नायक सन्यासी का वेष बनाकर राजसभा में जाता है। नायक जब पकड़ा जाता है, तब गंगाभाट यह रहस्य खोलता है कि यह सन्यासी तो एक राजकुमार है। इस नाटक ने भावी प्रेम-नाटकों को प्रभावित किया है।

भारतेन्दु के `विद्यासुन्दर` नाटक से प्रेरणा ग्रहण कर श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी ने `मिथिलेश कुमारी` [सन् १८८८ ई०] नामक प्रेमनाटक की रचना की। विद्या के समान मिथिलेश भी प्रण करती है कि जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा, उसी के साथ वह विवाह करेगी। अंग-प्रत्यंगों का चित्रण इसमें भी लोककथाओं की भांति किया गया है। इसका नायक भी राजकुमारी के महल में पकड़ा जाता है। `विद्यासुन्दर` में नायक सन्यासी का रूप धारण

करता है, जो इस नाटक में पुजारी था । इस प्रकार यह अनुकरणात्मक नाटक है ।

खड्गबहादुर मल्ल कृत `रति कुसुमायुध` [सन् १८८५ ई०] में विद्यासुन्दर, चन्द्रावली एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् से प्रभाव ग्रहण किया गया है । प्रेमतत्व के साथ ही इस नाटक में पौराणिकता का भी समावेश किया गया है । आकाशवाणी होना एवं देवताओं का आशीर्वाद प्रदान करना प्रमुख स्थल हैं ।

`रति कुसुमायुध` के आधार पर अजर प्रसाद ने `मालती वसंत` [सन् १८९९ ई०] शीर्षक नाटक की रचना की । धर्मगाथा के प्रसंगों के समावेश में नाटककार ने शकुन्तला नाटक की कथा से सहयोग ग्रहण किया है । नारद नायक को अभिशप्त करते हैं कि --" जिसके ध्यान में मग्न तू भूला है, वही तुझे भूल जायगी ।" तत्काल ही नारद अपना अभिशाप निष्फल भी कर देते हैं । इस प्रकार नाटककार प्रेमकथा को विकसित करने के साथ ही धर्मगाथा तत्व को प्रतिष्ठा प्रदान करने के प्रति भी जागरूक है । अतएव प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त कथानक `लोक` के कल्पना विलास से उत्पन्न मनोरंजक कहानियों से भिन्न नहीं है ।

श्री अमान सिंह गोटिया और पं० जागेश्वरदयाल ने संयुक्त रूप से `मदनमंजरी` नाटक [सन् १८८४ ई०] की रचना की । भूमिका में लेखक-द्वय ने स्वीकार किया है कि, "जब मैं काशी में था तब श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र की बनाई हुई बहुत सी पुस्तकें देखीं तो मन में उत्पन्न हुआ कि मैं भी बाबू साहब की सहायता से इस पुस्तक को प्रचलित करूं ।" नाटक की कथा के अध्ययन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दु द्वारा विद्यासुन्दर में स्वीकृत प्रेमकथा का ही अनुकरण किया गया है ।

उपर्युक्त समस्त नाटक ही उद्देश्यप्रधान हैं । भरतमुनि ने नाटकों का उद्देश्य उपदेश तथा रस माना है ।--

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।[१]

१- भरतमुनि -- नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ११३ ।

विनोदजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ।[१]

नाटककारों ने लोकप्रचलित प्रेमकथानकों का आधार ग्रहण कर नाट्यरचना की है, किन्तु इसी के साथ उन्होंने युग-स्वरूप और सुशिक्षा के परिणामस्वरूप भावी परिवर्तनों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने यह भलीभांति जानकारी प्राप्त कर ली थी कि वर-वधू की अनिच्छा से सम्पन्न हुए विवाह के कारण जीवन कितना नारकीय बन जाता है। स्वयं भारतेन्दु का जीवन-दर्शन इसका प्रमाण है। उनकी धर्मपत्नी अशिक्षित थीं। वे साहित्य, कला, संगीत के मर्म से अनभिज्ञ थीं और दूसरी ओर इन ललित कलाओं के प्रति भारतेन्दु का आत्मिक अनुराग था। अतएव उनके लिए मानसिक अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक हो गया। 'प्रेमयोगिनी' नाटक के माध्यम से भारतेन्दु इसी विचारणा का विश्लेषण करना चाहते थे। इस नाटक में सूत्रधार ने इस दिशा में विचार व्यक्त किया है -- "हा सज्जन शिरोमणि ! कुछ चिन्ता नहीं तेरा [हरिश्चन्द्र] तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निन्दा करते हैं और तू संसारी वैभव से सुचित नहीं है, तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहां उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवन-पद्धति समझेंगे [नेत्रों से आंसू गिरते हैं] मित्र ! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निन्दा से क्या, इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो। स्मरण रखो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"[२] भारतेन्दु जी और उनके सहयोगियों ने इसी लिए ऐसे नाटकों की रचना की, जिनके माध्यम से वर-वधू

१- भरतमुनि -- नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ११७।

२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० १९८।

दोनों एक दूसरे के संबंध में पूर्व जानकारी प्राप्त करके, आपसी व्यवस्थापन करके तब विवाह-सूत्र में आबद्ध हों। ऐसे विवाहों को सामाजिक मान्यता भी प्राप्त हो, क्योंकि भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन परम्परा इस तथ्य का प्रमाण है कि गन्धर्व विवाह को स्वयंवर की अपेक्षाकृत श्रेष्ठ कहा गया है। इसी परम्परित मान्यता को भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने महत्व प्रदान किया है। "भारतेन्दु जी के 'विद्यासुन्दर' और 'सती प्रताप' नाटकों की परम्परा में लिखे गए नाटकों में नाटककारों का उद्देश्य गंधर्व-विवाह रहा है। इन नाटकों में नायक-नायिका एक दूसरे को देख कर आसक्त होते हैं। वे परस्पर विवाह-सूत्र में सामाजिक-विवाह से पहले ही बंध जाते हैं। नाटककारों का उद्देश्य है कि वर-कन्या एक दूसरे को देख कर पसंद करें, माता-पिता की प्रेमराज्य में क्या आवश्यकता है।"[१]

श्री शालिग्राम कृत 'माधवानल कामकंदला' [सन् १८८८ ई०] का आधार महाकवि आलम कृत 'माधवा नल काम कंदला' [रचना काल १५८१ ई०] कृति है। सूफी कवि आलम ने लोकप्रचलित कहानी का आधार ग्रहण किया। "इन कहानियों की परम्परा बड़ी पुरानी है। इनकी एक लिखित साहित्यिक-धारा गुणाढ्य की बड्डकहा से आरम्भ होकर प्राकृत, अपभ्रंश और आदि हिन्दी के चारण काव्यों से गुजरती हुई सूफियों के प्रेमाख्यानकों तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है। सूफी कवियों ने इन लोक-प्रचलित कथानकों का ही आश्रय लेकर अपनी बात जनता तक पहुंचाई है।"[२] यही उद्देश्य श्री शालिग्राम का भी है। आलम के कुछ अनेक दोहों को उसी रूप में नाटककार ने ग्रहण किया है। पात्रों द्वारा अनेक स्थलों पर कुसुमवेश एवं कामकंदला का उर्वशी अप्सरा के रूप में अवतरण लौकिक कथाओं के स्वरूप से सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है।

भारतेन्दु की परम्परा में उल्लिखित सोद्देश्य नाटकों के अतिरिक्त 'माधवानल कामकंदला' का विशिष्ट स्थान है। क्योंकि नाटककार ने कथा-रूढ़ि का आधार

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १७० ।
२- डा० रवीन्द्र भ्रमर -- हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, पृ० ५८ ।

ग्रहण करके नाटक की कथावस्तु को आकर्षक स्वरूप प्रदान किया है। इसी परंपरा पर आधारित पं० किशोरीलाल गोस्वामी का नाटक `मयंक मंजरी महानाटक` [सन् १८६१ ई०] की रचना की। नाटककार लोकतत्व से अपने को उन्मुक्त नहीं कर सका है। अपने प्रेम को मंगलमय एवं स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से नायिका मंगला-गौरी का स्मरण करती है। शकुन्तला के गन्धर्व-विवाह की जानकारी जब कण्व ऋषि को मिली, तो उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया और शकुन्तला को पतिगृह पहुंचाने की समुचित व्यवस्था करा दी। रुक्मी ने अपनी बहिन रुक्मिणी का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्यत्र करने का प्रयास किया, उसका प्रतिफल क्या हुआ ? इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने वाला संवाद है --"रुक्मी ने रुक्मिणी के विरुद्ध विवाह का आयोजन करके कैसा संकट पाया था ?" इसी प्रकार लोकमानस को अभिभूत करने वाले राम और सीता से सम्बन्धित प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। भक्त प्रह्लाद ने भगवान के नामस्मरण एवं भक्ति के लिए अपने पिता हिरण्यकश्यप के अन्यायों का सामना किया और अन्ततोगत्वा सफलता अर्जित की, इसका भी उल्लेख है।

श्री खिलावन लाल का `प्रेम सुन्दर` [सन् १८६२ ई०] भी इसी परंपरा का अनुगमन करता है। इस नाटक की कथावस्तु का संक्षिप्त रूप इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है --" एक नायक है, एक नायिका है। प्रथम मिलन में ही दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति अटूट प्रेम-भावना उद्भूत होती है। दोनों विरह-वेदना के कारण व्याकुल हो जाते हैं। दोनों के मार्ग में बाधाएं उपस्थित होती हैं। बाधाओं का वे साहस के साथ सामना करते हैं। सच्चे प्रेम के कारण दोनों का मिलाप हो जाता है। -- इस सहज मूल कथा के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि `प्रेम सुन्दर` का कथानक भी परम्परा प्रथित लोक कथानकों से भिन्न नहीं है। `प्रेम सुन्दर` की संवाद-योजना पर `चंद्रावली` का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

श्रीनिवासदास के `तप्ता संवरण` [१८८३ ई०] के प्रथम अंक में तप्ता तथा संवरण का साक्षात्कार होता है। दूसरे अंक में दोनों में वार्तालाप और

गौतम का आगमन होता है। संवरण के प्रणाम न करने पर गौतम रुष्ट होकर शाप देते हैं कि वह जिसके ध्यान में है, वही उसे भूल जायेगी। प्रार्थना एवं प्रणाम करने पर आशीर्वाद प्रदान करते हैं कि अंग स्पर्श करने पर वह शाप मिट जायगा। तीसरे अंक में तप्ता सखियों सहित विरहिणी रूप में आती है, पत्र लिखती है, जोगिन बनती है, पर संवरण के आने पर उसे पहिचान नहीं पाती है। चौथे अंक में संवरण मित्र सहित आता है और विरहाधिक्य के कारण मूर्छित हो जाता है। तप्ता आती है, मुख पर से वस्त्र हटाती है, अत: शाप का निराकरण हो जाता है और मिलाप हो जाता है। पांचवें अंक में वशिष्ठ जी की अनुकम्पा से सूर्य भगवान आते हैं और सुपुत्री तप्ता का संवरण के साथ विवाह सम्पन्न करा देते हैं। भारतेन्दु की विचारणा के अनुसार ही पांचवें अंक में माता-पिता द्वारा विवाह की स्वीकृति प्रदान की गई है। अत: इस नाटक में लोक-चेतना के साथ ही युग-चेतना भी समाविष्ट है।

भारतेन्दु युग के नाटककारों की यही विशिष्टता है कि युग-चेतना को अभिव्यंजित करने के लिए लोक-चेतना का अवलम्बन ग्रहण किया है। "रीति-काल में हिन्दी साहित्य जन जीवन से अलग हो गया था। भारतेन्दु को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने साहित्य और जीवन का सम्पर्क स्थापित कर इस विच्छेद की गहरी खाई को पाट दिया।"[1]

सुखान्त प्रेम-नाटकों में भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक सुधार रहा है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उषा-अनिरुद्ध' की प्रेमकथाओं का लोकव्यापी रूप ही उपर्युक्त प्रेमनाटकों में समाहित है, अत: कथा-प्रवाह का नाट्य रूप सहजत: संवेदनशील हो गया है।

दु:खान्त प्रेम नाटक

भारतीय विचारणा के अनुसार सुखद प्रेम प्रसंगों को ही सदैव स्मरण किया गया है। इसीलिए जटिलता एवं अनेक व्यूहों के होते हुए भी यहां आशावादी

१- डा० किशोरीलाल गुप्त -- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० २।

दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। भारतेन्दुयुगीन दुखान्त नाटकों श्रीनिवास दास के `रणधीर प्रेममोहिनी` [सन् १८७७ ई०] का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है।

रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम अत्यधिक व्यापक है। नाटककार ने दोनों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभारा है और वियोगावस्था का प्रभावी चित्रण किया है। शालिग्राम वैश्य ने `लावण्यवती सुदर्शन` [सन् १८९० ई०] में `रणधीर प्रेममोहिनी` से प्रेरणा ग्रहण की है। इस नाटक में धर्म कथा के तत्वों को प्रविष्ट किया गया है और पूर्व-प्रचलित प्रेम-कथाओं का आधार लिया गया है। राक्षस नायक को उठा कर ले जाता है। नायिका-शुक मानवी भाषा प्रयुक्त करते हैं। सुलोचनक चिता में प्रवेश करता है। तब एक महापुरुष प्रकट होकर सहसा अन्तर्ध्यान हो जाता है।

`लावण्यमती सुदर्शन` का यथावत् अनुकरण श्री जवाहरलाल वैद्य ने `कमल मोहिनी भंवर सिंह` [सन् १८९६ ई०] नाटक में किया है। इस नाटक में भी नायक एवं नायिका एक दूसरे का स्वप्न में दर्शन करके प्रभावित होते हैं। नायिका की सखी योगिन बनकर नायक को लाती है। प्रेम-मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। सखी नायक को एक स्थान पर रोककर नायिका को लेने जाती है। नायिका उस स्थल पर पहुंचती है। नायक के गोपनीय ढंग से लोप होने पर नायक के माता-पिता क्षुब्ध होते हैं। नायिका अपने पिता के पास समाचार भिजवाती है कि नायक सामान्य युवक नहीं अपितु राजकुमार है। इसी बीच बधिक द्वारा नायक का प्राणान्त हो जाता है, ऐसी स्थिति को सहन न कर सकने के कारण नायिका भी प्राण त्याग देती है। प्रयास यह होता है कि नायक को बचा लिया जाए किन्तु असफलता मिलती है, क्योंकि राजा के बचाव सम्बन्धी आदेश के पूर्व ही नायक को फांसी हो जाती है। नायिका के माता-पिता भी शोक-संतप्त होकर विलाप करते हैं और प्राण त्याग कर देते हैं। प्रस्तुत नाटक सुगमतापूर्वक सुखान्त नाटक में परिवर्तित किया जा सकता है। यह नाटककार का अनुकरणात्मक-संकल्प ही है कि उसने फलागम को दुःखान्त बना दिया है। इसमें

कथा-प्रारूप लोककथात्मक स्वरूप से भिन्न नहीं है। भारतेन्दु युग के संयोगात्मक नाटकों में प्रेम की अनिवार्य एवं व्यापक सत्ता को प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है, तो वियोगात्मक-नाटकों में प्रेम को सर्वथा त्याज्य तथा अशुभ फलदायी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

श्री बालमुकुन्द ने 'गंगोत्री' [सन् १८६७ ई०] नाटक में कथानक को कौतूहलपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। 'रणधीर प्रेममोहिनी' के कथा प्रसंगों का इस नाटक पर प्रभाव है। इस नाटक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि नायिका निम्न-वर्ग की युवती है। भारतेन्दु जी का यही प्रयास था कि निम्न वर्ग के लोगों को भी नाट्य साहित्य में स्थान मिले, ताकि नाट्य-विधा लोक-जीवन में अधिकाधिक प्रतिष्ठित हो सके। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा में उच्च वर्ग को ही पात्रता मिली थी, जिससे नाट्य-साहित्य में अवरोध रहा है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को भलीभांति स्वीकार कर लिया था। तभी तो वे, "अनेक वर्गों, जातियों ..... के लोगों को उनकी प्रधान विशेषताओं के साथ रंगमंच पर ले आना"[१] चाहते थे। श्री बालमुकुन्द ने भारतेन्दु की इस विचारधारा का प्रतिफलन प्रस्तुत नाटक में किया है।

सुखान्त प्रेम नाटकों की भांति ही भारतेन्दु युगीन दुखान्त प्रेम नाटकों में भी सामाजिक समस्याओं के विविध पक्षों का साक्षात्कार नाटककारों ने किया है। इन नाटकों का कथा-रूप भी लोककथात्मक स्वरूप से भिन्न नहीं है।

भारतेन्दु युग के लोककथात्मक अन्य रूपों पर आधारित नाटक

ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नाटक

पूर्व कथन की पुनरावृत्ति अप्रासंगिक न होगी कि ऐतिहासिक तथ्य भी प्रेम गाथा को प्रभावित करते हैं।" प्रत्येक देश में अनेक प्रकार की लोक कहानियां

१- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० २।

प्रचलित होती हैं। इनमें कुछ एक का सम्बन्ध इतिहास से भी जुड़ा रहता है। ऐसी ऐतिहासिक या इतिहासाश्रित कहानियां अपने मूल रूप में उतनी ही लोकाकर्षक और काल्पनिक होती हैं, जितनी कि सामान्य प्रकार की लोक कथाएं। इनमें केवल ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम भर रहता है, बाकी सब कुछ कल्पनाश्रित। परम्परागत लौकिक कथारूपों और कथानक-रूढ़ियों के परिधान में ये नाम अपना ऐतिहासिक निजत्व खो चुके होते हैं और काल्पनिक एवं निजन्धरी ~~कथानक~~ कथानायकों से भिन्न नहीं जान पड़ते।"[1] अतएव रोमान्सपूर्ण ऐतिहासिक कथानकों पर विचार करना न्याय-पूर्ण होगा कि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ ही कथानक कहां तक लोकोन्मुख है? क्योंकि, "इस देश के कवियों ने इतिहास लेखन की ओर कम ध्यान दिया है। उन्होंने जब कभी इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को अपनी रचना का आधार बनाया है, तो उनके सम्मुख कवि-कल्पना का पथ काफी प्रशस्त रहा है। परिणाम-स्वरूप वे पात्र या तो देवत्व की भूमिका में प्रतिष्ठित हो गये हैं या अलौकिक निजंधरी कथा-नायकों के रोमानी प्रतीक बन गए हैं।"[2]

भारतेन्दु युग में यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों की रचना कम हुई है, तथापि उपलब्ध नाटकों के आधार पर यह कहा जा सकता है --"ऐतिहासिक नाटक लिखने के दो ढंग हैं। एक ढंग है कि नाटककार किसी ऐतिहासिक प्रसंग या चरित्र से प्रभावित होकर उसको नाटक में स्थान देता है। दूसरा ढंग है कि नाटककार पहले से एक विचार या दृष्टिकोण अपनाए होता है, और उसी की पुष्टि के लिए इतिहास से पात्र या प्रसंग ढूंढ कर नाटक लिखता है। भारतेन्दुकालीन नाटककारों ने दूसरे ढंग को अपनाया है।"[3] इस प्रकार ऐति-हासिक पात्रों और प्रसंगों के प्रयोग से नाटक ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी

१- डा० रवीन्द्र 'भ्रमर' -- हिन्दी भक्तिसाहित्य में लोकतत्व, पृ० ६० ।
२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य, पृ० ६८ ।
३- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० २२६ ।

में नहीं लाया जा सकता है। आलोच्य युग के 'सती प्रताप', 'मीराबाई' नाटकों का इस दृष्टि से अनुशीलन विशेष महत्व रखता है।

भारतेन्दु कवि हरिश्चन्द्र ने 'सती प्रताप'[1] में पातिव्रत धर्म के महत्व को निरूपित किया है। प्रथम दृश्य में नाटककार ने पातिव्रत-धर्म का गौरव-गीत प्रस्तुत किया है --

"जग में पातिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान।
अनुसूया, सीता, सावित्री इनके चरित्र प्रमान।"

सावित्री-सत्यवान की धर्म कथा में लोकमानस को सदैव उद्वेलित करती रही है। पार्वती, सीता आदि नारियों का श्रद्धाभाव से स्मरण किया जाता है। प्रस्तुत नाटक में सावित्री द्वारा नाटककार ने कहा है -- "सर्व सम्पत्ति की मूल कारणस्वरूपा देवी पार्वती भगवान् भूतनाथ की परिचर्या इस वेष से क्यों करतीं ? सती कुलतिलका देवी जनकनंदिनी को अयोध्या के बड़े-बड़े स्वर्ग विनिन्दक प्रासाद और शची दुर्लभ गृह-सामग्री से भी वन की पर्णकुटी और पर्वतशिला अतिप्रिय थी क्योंकि सुख तो केवल प्राणनाथ की चरण परिचर्या में है।"[2] लावनी, छप्पय आदि के प्रयोग से लोकोन्मुखता स्पष्ट होती है। नारद भगवान् के प्रति लोक में असीम श्रद्धा है। नारद का नाटक में अवतरण एक विशिष्ट महत्व रखता है। प्रस्तुत नाटक में नारद के माध्यम से नाटककार ने संदेश प्रस्तुत किया है --" राजन्! तुम्हारे पास सत्यधन, तपोधन, धैर्यधन अनेक धन हैं, तुम क्यों दीन हो ? और आज हम तुमको एक अति शुभ संदेश देने के लिए आए हैं। तुम्हारे पुत्र का विवाह-सम्बन्ध हम अभी स्थिर किए आते हैं। सावित्री के पिता को भी समझा आए हैं

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० २३३।
२- वही, पृ० २४०।

कि उनकी कन्या सावित्री अपने उज्ज्वल पातिव्रत धर्म के प्रभाव से सब आपत्तियों को उल्लंघन करके सुखपूर्वक कालयापन करेगी और अपने पवित्र चरित्र से दोनों कुल का मान बढ़ायेगी । तुमसे भी यही कहने आये हैं कि सब संदेह छोड़कर विवाह का बन्धन पक्का करो ।"[१] इस कथन के माध्यम से नाटक की भावी घटनाओं का संकेत मिलता है और इस अपूर्ण नाटक के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि नाटककार ने ऐतिहासिकता के आधार पर युग-बोध का सामंजस्य प्रभावशाली रूप में किया है, अतः नाटक ऐतिहासिकता की सीमा को पार करके लोकप्रिय बन गया है ।

'मीराबाई' नाटक [सन् १८९० ई०] में पं० बलदेव प्रसाद ने अकबर और राणा कुम्भा को समकालीन बनाकर नाट्य-रचना की है । प्रस्तुत नाटक में धर्म कथा से सम्बन्धित तत्वों का प्रचुर रूप में समावेश है । तलवार का टूट जाना , मीराबाई का गड्ढे में जीवित रहना, कृष्ण के साथ अदृश्य होना, कृष्ण का मूर्ति में से बाहर आकर सुन्दरी मीरा का सामीप्य ग्रहण करना और महाराणा कुम्भा का मूर्च्छित होना आदि अनेक प्रसंगों का समाविष्ट करके नाटककार आश्चर्यमंडित परिधान से प्रस्तुत नाटक को युक्त करने के लिए तत्पर है ।

सामयिक सामाजिक धर्म पर आधारित नाटक

भारतेन्दु युग में "सामयिक सामाजिक धर्म" से सम्बन्धित नाटक तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर तीव्र प्रहार करते हैं । प्रत्येक जागरूक साहित्यकार जहां एक और लोक कथानकों का आश्रय ग्रहण करता है, वहीं दूसरी ओर युगीन समस्याओं में से कथानकों का चयन करता है । अस्तु, इस विचारधारा के अंतर्गत

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० २४२ ।

समाहित भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य युग-धर्म से प्रेरित कहा जा सकता है। लौकिक धर्म और युग धर्म में विभेद यही है कि लौकिक-धर्म में परम्परा-प्रवाह की उपस्थिति रहती है, तो 'युग-धर्म' में सामयिक मूल्यों के आधार पर निर्मित तथ्यों की अभिव्यंजना रहती है। प्रथम के अन्तर्गत राम, कृष्ण, नहुष, हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, सावित्री, दमयंती आदि से सम्बन्धित कथानकों को समाहित किया जा सकता है, तो द्वितीय के अन्तर्गत आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवर्तकों का स्थान है। आगामी ~~पाँचवें~~ अध्याय में 'कथा रूढ़ि' के अन्तर्गत इन नाटकों पर भी विचार किया जायगा क्योंकि मात्र कथानक की दृष्टि से 'सामयिक सामाजिक नाटक' लोकोन्मुख नहीं हैं किन्तु कथा-रूढ़ि की दृष्टि से स्थान-स्थान पर लोक-प्रचलित रूढ़ियों के उपयोग की सम्भावना व्यक्त होती है। भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' की विवेचना करते हुए डा० दशरथ ओझा ने ठीक ही लिखा है कि --" इस नाटक में ग्रामीण जनता में से आद्योपान्त जितना हास्य-विनोद पाया, उतना ही राष्ट्रीयता का पाठ भी अनजाने सीख लिया। अन्यायी राजा को अंत में टिकटी पर चढ़ाकर भारतेन्दु जी भविष्य में भारत उद्धार की ओर संकेत करते हैं। अकेले इस नाटक में जितना उपकार ग्रामीण जनता का किया, उतना कदाचित् अद्यावधि किसी अन्य नाटक ने किया हो।"[1]

सामयिक राजनीति पर आधारित नाटक

'सामयिक समाज' के साथ ही तत्कालीन राजनीति के विरोध में भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने नाट्य-रचना की है। सत्ता के अधिकारी वर्ग की नीतियाँ एवं जनता के मनोभावों के आधार पर निर्मित नीतियों में किसी न किसी स्तर पर वैषम्यता रहती है। भारतेन्दु युग में अंग्रेज़ी शासन का प्रभुत्व रहा, जिनका

१- डा० दशरथ ओझा -- हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १८१-८२।

प्रमुख उद्देश्य आर्थिक शोषण था, अतएव भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने समग्र अंग्रेजी शासन का विरोध किया।" राजनीतिक साहित्य वर्षों तक आगे-पीछे रचा जाता रहा और युग-चेतना को उसने मद्धिम न होने दिया। भारतेन्दु से लेकर, जिनका उद्देश्य ही लोकसाहित्य की रचना करना था, गदाधर सिंह तक जो अपने ठोस अनुभव के कारण लेखकों की श्रेणी में आ मिले -- सभी ने उस युग को संवारा है। कुछ ने जान-बूझ कर, कुछ ने बिना जाने सरकार की नीति और देश-विदेश में फैले हुए साम्राज्यवाद की पशुता को लोगों पर प्रकट कर दिया। दरबारी संस्कृति को इन सब बातों से भारी धक्का लगा और साहित्य ने जनता के मन को उधर से हटा कर नए आन्दोलनों की ओर लगाया।"[१] अतः इस आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें युग-बोध का प्रांजल स्वरूप प्रबल रूप में मुखरित हुआ है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार जनसमूह के मानस को प्रेरित-उद्वेलित करना चाहते थे। अतएव कथानक को प्रभावी रूप देने के लिए लौकिक रूप रूढ़ियों का प्रचुर प्रयोग भी हुआ है जिनपर आगामी अध्याय में विचार किया जायगा।

शरत्कुमार मुखोपाध्याय के भारतोद्धार नाटक में धर्मकथा का रूप प्रस्तुत हुआ है। आकाशवाणी-प्रसंग तथा देवी सरस्वती का प्रकट होकर वरदान के प्रसंग को नाटककार ने उपस्थित करके नाटक को लोकोन्मुख बनाने का प्रयास किया है, अतएव इस दृष्टि से राजनैतिक नाटकों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा पर आधारित नाटक

लोकधर्मी नाट्य परम्परा के माध्यम से असीम काल से लोक का प्राणी अनुरंजन के साथ ही सद्शिक्षा प्राप्त करता रहा है। भारतेन्दु के पूर्व लोक-

---

१- डा० रामविलास शर्मा, -- भारतेन्दु युग, पृ० १६।

जीवन में विविध लोक धर्मी नाट्य परम्पराएं विकसित हो रही थीं । 'भारतेंदु युग के नाटककारों ने लोक में व्याप्त नाट्य-परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण की और कथानक तथा रंगमंचीय शिल्प को दिशाएं प्रदान कीं । 'भारती हरण' नाटक में इस और ध्यानाकर्षण अपेक्षित है --"एक यह कि रसिकों का मनोरंजन हो और दूसरा यह है कि नाटक रचना ऐसी हो कि जिससे श्रोताओं की प्रकृति, चित्त, मन की उमंग किंचित् भी नीच श्रेणी की न होने पावे ।"[१]

लोक-नाट्य परम्परा से प्रभाव ग्रहण कर 'अमानत' ने सन् १८५३ ई० में 'इन्द्रसभा' की रचना की । 'इन्द्रसभा' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर पारसियों ने थियेट्रिकल कम्पनियों की स्थापना की, अत: रास-शैली का इन नाटकों पर पूर्ण प्रभाव है । इस परम्परा के अन्तर्गत लिखे गए नाटकों का विरोध इसलिए हुआ कि इन नाटककारों ने लोकतत्वों का आश्रय तो लिया किन्तु उसका स्वरूप कुत्सित कर दिया, क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य धनोपार्जन था । कदाचित इसीलिए 'इन्द्रसभा' के विरोध में भारतेन्दु ने 'बंदर सभा' की रचना की ।

"सभा में दोस्तों बंदर की आमद आमद है ।
गधे और फूलों के अफसर जी आमद आमद है ।
पाजी हूं मैं कौम का बंदर मेरा नाम ।
बिन फुजूल कूदे फिर मुझे नहीं आराम ।।
सुनो रे मेरे देव के दिल को नहीं करार ।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार ।।"[२]

भारतेन्दुयुगीन नाटकों की अभिवृद्धि में नाटक के इस विरोधी स्वरूप के कारण युगीन साहित्यकार लोकोपयोगी दृष्टि से नाट्य-रचना में सजग रहे हैं ।

१- देवकीनन्दन त्रिपाठी -- भारती हरण [सन् ???? १८९८ ई०], भूमिका ।
२- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका -- खण्ड ३३, जुलाई, सन् १८७९ ई० ।

वैसे इन नाटकों का भारतेन्दु-युग के उत्तरकालीन साहित्यकारों पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

भारतेन्दुयुगीन उपर्युक्त नाटक लोककथात्मक विविध रूपों से समन्वित रहे हैं। ये नाटक ऐतिहासिक तथ्यों, सामयिक समाज, सामयिक राजनीति तथा लोकधर्मी नाट्य परम्परा के रूप में से सम्बन्धित रहे हैं और इनके मूल में लोक तत्वों को विविध स्तरों पर प्रतिष्ठा मिली है।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों के समक्ष लोक कथानकों की एक व्यापक पृष्ठ-भूमि उपस्थित थी। चूंकि नाटककार लोकमानस को प्रेरित-उद्वेलित कर उसे युग-बोध से संयुक्त करना चाहते थे, अतएव लोक-कथाओं की तेजस्विता को ग्रहण करना उनके लिए सहज स्वाभाविक हो गया था। लोककथा के सम्मोहक एवं प्रभावी स्वरूप से संवेदनशील सम्बन्ध रहने के कारण ही नाट्य-शिल्प का आन्तरिक स्वरूप प्रांजल होता सका है और अनेक लोकतत्व स्वतः समन्वित हो गए हैं। इस प्रकार लोक-कथाओं के प्रति नाटककारों की प्रगाढ़ आस्था ही भारतेन्दु-युग को लोकचेतना से अधिकाधिक आवेष्टित कर सकी है और विविध स्तरों पर लोकतत्वों का प्रस्फुटन संभावित हो सका है।

---o---

अध्याय - ३

भारतेन्दु युगीन नाट्य-साहित्य में लोकरूढ़ि

लोकरूढ़ि का स्वरूप

लोक कथानकों में बार-बार प्रयुक्त होने वाले समानार्थी विचारों अथवा घटनाओं को लोकरूढ़ि की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। ये विचार या घटना-तन्तु प्रभावी एवं सुसम्बन्धित कथानकों के निर्माण एवं विकास में योग प्रदान करने में सक्षम होते हैं। उदाहरणार्थ किसी नारी का धरती में समा जाना[1] एक घटना हो सकती है, किन्तु यही घटना अनेक कथानकों में विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जब प्रयुक्त की जाती है, तब यह घटना एक रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है। "हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय [रूढ़ियां] बहुत दीर्घ काल से व्यवहृत होते आए हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चल कर कथानक रूढ़ि में बदल गए हैं।"[2] आधुनिक समीक्षा के पाश्चात्य विद्वान् टी० शिपले ने अभिप्राय [रूढ़ि] का अर्थ --"किसी कृति की कोई रूपगत विशेषता"-- के रूप में निरूपित किया है। उनकी धारणा के अनुसार रूढ़ियों का तात्पर्य --"उस शब्द अथवा उस विचार से है, जो एक ही सांचे में ढले जान पड़ते हैं और किसी एक कृति अथवा एक ही कवि की भिन्न-भिन्न कृतियों में एक जैसी परिस्थितियां अथवा एक जैसी मन:स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए एकाधिक बार प्रयुक्त होते हैं।"[3]

१- 'रामलीला नाटक', 'सीताहरण नाटक', 'मदनमंजरी नाटक', 'वृहन्नला', 'सती चरित्र', 'रणधीर प्रेम-मोहिनी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि नाटकों में यह रूढ़ि प्रयुक्त हुई है।

२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४।

३- टी० शिपले -- डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स, पृ० २७४ [लन्दन, १९५५]।

अभिप्राय: का शिष्ट साहित्य में प्रयुक्त कथा-रूढ़ियाँ मुख्यत: लोक-साहित्य और लोक-कथाओं से सम्बन्धित होती हैं। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने लोककथाओं के रूप को स्वीकार किया है, अत: उनके नाटकों में रूढ़ियों का उक्त रूप में समाविष्ट होना स्वाभाविक ही था।

विषय की दृष्टि से लोक-रूढ़ियों को दो वर्गों में इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है --

अ- घटना-प्रधान
ब- विचार अथवा विश्वास प्रधान

(अ) घटना प्रधान

जैसे :-- घोड़े का आखेट के समय किसी निर्जन वन में पहुँचना, मार्ग भूल जाना, मानसरोवर पर किसी सुन्दरी नारी का साक्षात्कार अथवा समुद्र यात्रा के समय तूफान में विलग हो जाना, नौका अथवा जहाज का टूटना और काष्ठफलक के सहारे से नायक-नायिका की प्राणरक्षा जैसी घटनात्मक रूढ़ियाँ -- इस वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होंगी।

(ब) विचार अथवा विश्वास प्रधान

जैसे :-- स्वप्न में किसी पुरुष का किसी नारी को अथवा किसी नारी का किसी पुरुष को देख कर मोहित होना अथवा अभिशाप, जन्त्र-मन्त्र या जादू-टोना द्वारा रूप या लिंग परिवर्तित होना आदि विचार या विश्वास से अनुप्रेरित रूढ़ियाँ इस वर्ग के अन्तर्गत स्थान ग्रहण करती हैं।

भारतीय कथानकों के अभिप्रायों के अध्ययन की ओर सर्वप्रथम टेम्पिल और स्टील ने ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अभिप्रायों को घटनाओं का नाम दिया। उनके अनुसार --"घटनाएं चाहे कितनी मनोरंजक क्यों न हों केवल गड़बड़झाला के समान हैं, जब तक कि किसी एक कथानक में गुम्फित न

ओं और कथानक की भाँति एक बाह्य आवरण के समान बिना उपयुक्त घटनाओं के होता है।"[1] पाश्चात्य विद्वान् मारिस ब्लूमफील्ड ने "अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी" के जर्नल की ३६ वीं, ४० वीं और ४४ वीं जिल्द में भारतीय कथानक-रूढ़ियों पर महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं। पेंजर महोदय ने "द ओशन आफ स्टोरी"[2] के नवें भाग के अन्त में भारतीय कथानक-रूढ़ियों की एक विस्तृत तालिका प्रस्तुत की है। कुछ रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं :--

(१) प्रिया की "दोहद कामना" की पूर्ति के लिए प्रिय द्वारा दुष्कर और कठिन कार्यों का किया जाना।

(२) परकाया-प्रवेश अर्थात् किसी दूसरे व्यक्ति के निर्जीव अथवा मृत शरीर में प्रविष्ट हो जाना।

(३) पशु-पक्षियों अथवा राक्षसों की बातें गुप्त रूप से सुन कर किसी रहस्य को जान लेना।

(४) किसी स्त्री का किसी व्यक्ति से प्रणय-निवेदन और असफल होने पर प्रतिकार की भावना से बलात्कार का दोषारोपण।

(५) किसी प्रेत, राक्षस या हिंस्र-पशु से किसी व्यक्ति का यह वादा करना कि अमुक कार्य सम्पन्न करने के उपरान्त वह अवश्य वापस आएगा, संप्रति उसके प्राण न लिए जायें एवं उसे मुक्ति दी जाय।

(६) भविष्य सूचक स्वप्न अर्थात् स्वप्न के माध्यम से आने वाली घटनाओं और शुभ-अशुभ परिस्थितियों का ज्ञान।

(७) किसी कठिन कार्य को सम्पन्न कर लेने के पश्चात् किसी राजा द्वारा आधे राज्य और राजकुमारी की प्राप्ति।

१- टेम्पिल एण्ड स्टील --"वाइड अवेक स्टोरीज़", पृ० १२८।

[८] प्रस्तर मूर्तियों का मनुष्य रूप में जीवित हो जाना।

[९] हाथी, अश्व, वानर, भूत, और कुछ मानवेतर योनि अधि-कारियों द्वारा राजा का चयन।

[१०] पूजा-पाठ, तन्त्र-मन्त्र अथवा अनुष्ठान द्वारा सन्तानोत्पत्ति।

[११] गरुड़ एवं अन्य किसी विशाल पक्षी की पीठ पर बैठ कर या उसके पैरों के सहारे लटककर एक द्वीप से दूसरे द्वीप अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करना।

[१२] समुद्र-यात्रा, जलपोत-दुर्घटना और काष्ठफलक के सहारे अथवा किसी अन्य प्रकार से बचकर नायक-नायिका की प्राणरक्षा।

[१३] घोड़े का मार्ग भूलना, किसी उजाड़ नगर या जंगल में पहुंचना और वहाँ किसी स्त्री से भेंट तथा प्रेम-व्यापार का विकास।

[१४] यात्रा या किसी अन्य कार्य को आरम्भ करने से पूर्व शुभाशुभ शकुन और उनका विचार।

[१५] प्रेम-व्यापार अथवा किसी अन्य अवसर पर कथा-पात्र द्वारा चिता में भस्म होकर या किसी अन्य प्रकार से प्राण-त्याग की धमकी।

[१६] किसी गुरु द्वारा कोई ऐसा फल लाया जाना जिसे खा लेने पर वृद्ध युवा हो जाय अथवा कुरूप व्यक्ति सुन्दर हो जाय।

[१७] सत्यक्रिया या सतकिरिया अर्थात् किसी निश्चित प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसी व्यक्ति द्वारा सत्य वचन की घोषणा : जैसे कोई कथानायक कहे कि यदि मैंने जीवन में किसी का अपकार न किया हो तो मेरा मृत पुत्र जीवित हो जाय।

[१८] किसी एक व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति, पशु या वस्तु में प्राण जाना ।

[१९] किसी व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति के पास उसके पति का वेश धारण करके जाना -- रूप परिवर्तन ।

[२०] पुरुष का स्त्री रूप में और स्त्री का पुरुष रूप में बदल जाना -- लिंग परिवर्तन ।

[२१] नायक और किसी मायावी के मध्य तन्त्र-मन्त्र से [illegible] युद्ध ।

[२२] अभिज्ञान या सहिदानी -- अंगूठी या किसी अन्य वस्तु के माध्यम से प्रिय द्वारा प्रिया अथवा प्रिया द्वारा प्रिय की पहचान ।

[२३] रूपगुण श्रवण अथवा स्वप्न दर्शन या चित्र दर्शन के माध्यम से प्रेमोत्पत्ति ।

[२४] किसी कथा या किसी एक आख्यान के वक्ता और श्रोता के रूप में आने वाले शुक-शुकी, चकवा-चकई या कोई अन्य पक्षी ।

[२५] अभिशाप एवं वरदान, जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र आदि के विविध प्रयोग ।

[२६] संदेशवाहक के रूप में हंस, कपोत, शुक या अन्य पंछी ।

[२७] आकाशवाणी ।

लोक-रूढ़ियाँ लोक-गाथाओं की विशिष्ट अंग हैं । एक लोकगाथा अनेक लोक-रूढ़ियों के समन्वय से लोकगाथात्मक रूप ग्रहण करती है, अतः रूढ़ियों में लोकमानस की अनुभूति एवं संवेदना घनीभूत रूप में समाहित रहती हैं । उपर्युक्त लोक-रूढ़ियाँ कथा-स्वरूप के विश्लेषण के उपरान्त ही निरूपित की गई हैं । इस दृष्टि से गाथा-विशेष के साहित्यिक अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि साम्य-कथात्मक रूप सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित होते हुए भी कथा के आधी

अपनी रानी से कहता है -- "अहा ! आज मैंने जो बुरे-बुरे स्वप्न देखे हैं कि जब से सो के उठा हूँ कलेजा काँप रहा है । भगवान् कुशल करे । ...... महाराजा को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाए देखा है और अपने को नग्न देखी और रोहिताश्व को देखा है कि उसे साँप काट गया है ।"[1] गुरुजी के पास रानी द्वारा इस अशुभ स्वप्न का समाचार पहुँचाया है और वे शान्ति-आचमन करा रोहिताश्व की दाहिनी भुजा पर रक्षा-बन्धन बाँधकर स्वप्न शान्ति का उपक्रम करते हैं । कथा-क्रम में जब रानी का हरिश्चन्द्र से साक्षात्कार होता है, तो रानी कहती है, "पिछली रात्रि मैंने कुछ दुःस्वप्न देखे हैं, जिनसे चित्त व्याकुल हो रहा है ।"[2] वास्तविकता यह है कि दुःस्वप्न हरिश्चन्द्र ने भी देखा है । वे बताते हैं -- "स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है । हाँ, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्या साधन करने को एक महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे सारा राज्य माँगा है । मैंने उसे प्रसन्न करने के लिए सारा राज्य दे दिया है ।"[3] और यह कथा-क्रम यहीं से प्रारम्भ होता है । नाटक का सम्पूर्ण विकास और अन्त इसी स्वप्न दर्शन पर आधारित है । इस प्रकार भारतेन्दु ने इस नाटक में स्वप्न-रूढ़ि को समुचित विस्तार प्रदान किया है ।

'कल्पवृक्ष नाटक' में स्वप्न द्वारा भावी-संकेत प्रस्तुत किए गए हैं । स्वप्न में श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा स्वप्न में फूलों से लदा वृक्ष देखती है और उसकी प्राप्ति में बाधाओं को उपस्थित पाती हैं ।[4] भावी क्रम में ऐसा ही होता है । रुक्मिणी (सौत) को पारिजात मिल जाता है, जिससे सत्यभामा

१- सत्य हरिश्चन्द्र -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० २३५ ।

२- वही, पृ० २४८ ।

३- वही, पृ० २३८ ।

४- [illegible]बहादुर मल्ल -- कल्पवृक्ष नाटक, पृ० ३० ।

छींक अपशकुन के रूप में लोकजीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। छींक आते ही व्यक्ति शकुन-अपशकुन की सम्भावना के व्यूह में उलझ जाता है और जब तक उसकी तुष्टि नहीं होती, वह आशंकाओं से आक्रान्त रहता है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में इस अपशकुन का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है।[1]

(३) आकाशवाणी भावी दुर्घटना के प्रति सजग रहने के लिए अथवा किसी रहस्य का उद्घाटन करने के लिए आकाशवाणी का नाटककारों ने [illegible] से प्रयोग किया है। लोक-प्रचलित विश्वासों के अनुसार आकाशवाणी का अर्थ है 'देववाणी' अर्थात् वह ध्वनि जो आकाश में स्वतः गुंजरित हो उठी हो और जिसकी सत्यता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता हो। कालिदास कृत शकुंतला में कण्व को यह सूचना आकाशवाणी द्वारा ही प्राप्त होती है कि शकुंतला का विवाह हो गया है और वह शीघ्र ही माता बनने वाली है।"[2]

वस्तुतः भारतेन्दु-युग के नाटककारों की लोकदृष्टि अत्यधिक व्यापक थी, अतएव इस युग के नाटकों में आकाशवाणी का प्रयोग स्वाभाविक ही गया है। 'सीता सावित्री'[3], 'द्रौपदी वस्त्रहरण'[5], 'दमयंती स्वयंवर नाटक'[6], 'रति कुसुमायुध'[4] आदि अनेकानेक नाटकों में आकाशवाणी का प्रयोग भारतेन्दु-युगीन नाटककारों ने किया है।

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- भारत दुर्दशा नाटक, पृ० २९ ।

२- ए० बी० कीथ -- द संस्कृत ड्रामा (आक्सफोर्ड) -- १९५४, पृ० ३०४ ।

३- कन्हैया लाल -- सीता सावित्री, पृ० २५ ।

४- खड्ग बहादुर मल्ल -- रति कुसुमायुध, पृ० २७ ।

५- राम प्रसाद -- द्रौपदी वस्त्र हरण, पृ० १९ ।

६- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर नाटक, पृ० २८ ।

अमानवीय व्यक्तियों से सम्बन्धित रूढ़ियाँ

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोक-कथाओं से भूत-प्रेत, राक्षस-राक्षसी, परी-अप्सरा आदि अमानवीय व्यक्तियों के उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इनका रूप निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है :--

(अ) खलनायक के रूप में
(ब) खलनायिका के रूप में
(स) प्रपंच रचना करने वाले मायावी के रूप में
(द) नायक या नायिका की रक्षा करने वाली शक्ति के रूप में

अतएव भारतेन्दुयुगीन नाटकों में अमानवीय व्यक्तियों के स्थान का विवेचन उपर्युक्त आधार पर उचित प्रतीत होता है।

(अ) खलनायक के रूप में -- खलनायक सदैव नायक के कार्यों को अवरुद्ध करने के लिए तत्पर रहता है। साहित्य में राक्षस को प्रायः खलनायक के रूप में उतारा गया है। किसी राक्षस द्वारा किसी कन्या का अपहरण एक प्रचलित अभिप्राय है। रामकथा में सीता का अपहरण एक सर्वप्रमुख घटना है। राम के साहस, बल, पौरुष और विविध कार्यकारी लोगों का समन्वय आदि इसी घटना से सम्बन्धित हो जाता है। 'सीताहरण' नाटक में राक्षसों के विषय में शबरी जी राम से कहती हैं --'महाराज यहाँ दो प्रकार के मनुष्य अधिक हैं, एक तो वानरों से मिलते हैं, परन्तु कुछ सभ्यता की ओर नहीं झुकते हैं। दूसरे विकट रूप हैं, न तो वानरों से मिलते, न आर्यावर्त के मनुष्यों से मिलते। ये लंका द्वीप के निवासियों से उत्पन्न हैं। महाराज क्या कहें, जो काम वन के जन्तु नहीं कर सकते, वे उस काम को सहज कर डालते हैं। इसी से हम लोग इन्हें राक्षस कहते हैं, विशेषकर इनका उपद्रव रात को अधिक होता है। इसी से इन्हें निशाचर भी कहते हैं।'[1] रामकथा की ही

१- पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी, -- सीताहरण, पृ० २०।

भाँति कृष्णकथा से सम्बन्धित नाटकों में भी इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति प्रभावी रूप से प्रस्तुत हुई है।[1] श्री कृष्ण राक्षसों का संहार करके उनके द्वारा अपहृत की गयी कन्याओं का उद्धार करते हैं।

(ख) छलनायिकाओं के रूप में

लोक में ऐसी अनेक लोककथानक प्रचलित रही हैं, जिनमें कोई राक्षसी या अप्सरा अपने रूप का परिवर्तन कर राजकुमार के समक्ष विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है। कभी तो वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर लेती है और राजकुमारी की हत्या कर डालती है और कभी असफलता प्राप्त कर राजकुमार द्वारा उपेक्षित एवं लांछित की जाती है। इसका उदाहरण है शूर्पणखा सुन्दरी है। राम के अनुपम रूप को निहार कर उसका स्त्री चित्त उस ओर जाता है। उसने अपना रूप और सजाया-सँवारा। राम को वह अपना नाम त्रिपुर सुन्दरी बताती है। वह राम से ही प्रणय-भिक्षा माँगती है। राम कहते हैं कि मेरी तो पत्नी है। त्रिपुर-सुन्दरी तत्काल उत्तर देती है -- "तो क्या भय है? एक और सही। राम बहुविवाह पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं -- "हम ऐसे मूर्ख राजा नहीं जो भेड़ों के समान स्त्रियों को पालें।"[2] निराश होकर उसने लक्ष्मण से प्रणय-भिक्षा माँगी। लक्ष्मण बोले -- "हम तो दास हैं। इस पर वह वाक्-निपुणा उत्तर देती है-- "तो क्या हुआ? क्या दास लोग पत्नियाँ नहीं रखते। लक्ष्मण ने डाँट-कर कहा -- "तू अपने को सुन्दर समझती है। तेरा क्या दोष? सभी स्त्रियाँ अपने को रूपगर्विता समझती हैं। पर सुन्दरता तो वही है, जबकि देखने वाला भी सुन्दरता की सराहना करे। इस पर वह त्रिपुर-सुन्दरी आग-बबूला हो जाती है। राम का गूढ़ संकेत मिलते ही लक्ष्मण स्वर बदल कर बोले -- "सुन्दरी तुमने सच कही है। अहा प्यारी! तुम्हारी नासिका बड़ी उत्तम है। तुम्हारे ये लाल कपोल त्रिभुवन को मोहे डालते हैं। तो सुनो

१- पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी, -- कंस-वध, पृ० २७ ।

२- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १४७ ।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युगीन कई नाटकों में प्रबंध रचना करने वाली भावनाओं की उपस्थिति हुई है। रामलीला व नाटककार रामायण, रामकथा प्रसंग, आ रामचरित नाटक, अम्बुजा नाटक आदि में यह प्रसंग उपस्थित है।

(ङ) नायक या नायिका की सहायता करने वाली शक्ति के रूप में भारतेन्दु युग के नाटकों में पृथक् पौराणिक कथानकों में राक्षस या अप्सरा अथवा अन्य अमानवीय शक्तियाँ कभी-कभी किसी कार्य-व्यापार सहयोगी रूप में भी अवतरित हुई हैं। "पौराणिक या लोककल्पित कथानकों में अप्सराएं या यक्ष राक्षस प्रेम-व्यापार में भी सहायक हुए हैं। उसमान कृत 'चित्रावली' में कोई देव (दैत्य) सुजानकुमार को राजकुमारी चित्रावली की चित्रशाला में रख जाता है और वह वहाँ राजकुमारी के चित्र को देखकर उस पर मोहित हो जाता है।"[1] इस प्रकार यह लोकप्रचलित एवं कुतूहलोत्पादक अभिप्राय है। भारतेन्दु युगीन प्रेम नाटकों के कथानकों में इस अभिप्राय का प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

"माधवानल कामकंदला" नाटक में उर्वशी अप्सरा का आगमन होता है जो पुनः कामकंदला के रूप में जन्म धारण करती है। "यह आलम कृत 'माधवानल कामकंदला' की कथा को आधार मानकर लिखा गया है। हाँ, नाटककार ने कथा को अधिक विस्तार दे दिया है। आलम के कुछ एक दोहे भी उधार लिए हैं। कथा में गति और घुमाव है। कथा की ओर अधिक ध्यान रखने से पात्रों के चरित्र-चित्रण का अवकाश ही नहीं मिला है। पात्रों द्वारा अनुमेय कई स्थान पर कराया गया है। नायक साधु बना, नायिका की सखी बूढ़ा ब्राह्मण बन राजसभा में पहुँची और विक्रम वैद्य बनकर कामकंदला के पास गया। इसमें पौराणिकता भी है क्योंकि उर्वशी अप्सरा नाटक में आती है और फिर वही कामकंदला रूप में जन्मती है।"[2] अतएव उर्वशी इस नाटक की कथा की प्रमुख सहायिका है।

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- हिन्दी साहित्य, पृ० २५३ ।

२- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० २७१ ।

<u>देवी-देवताओं तथा अन्य अलौकिक प्राणियों से सम्बन्धित</u>

<u>रूढ़ियाँ</u>

देवी-देवताओं को लोक जीवन में सांस्कृतिक-भूमि का अधिष्ठाता माना जाता है। देवी-देवताओं से जो भी प्रसंग सम्बन्धित हो जाते हैं, वे लोक-समाज में सत्य समझे जाते हैं। "वे [सन्दर्भ] उनकी मानसिक आवश्यकताओं को उतना ही संतोषपूर्वक पूर्ण करते हैं, जितना भोजन उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।"[1] लोककथाओं में देवी-देवताओं द्वारा मांगलिक कार्य सम्पन्न होते हैं। भूत, प्रेत, राक्षस आदि अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ नायक नायिका दोनों के कार्यों के कार्यों में बाधक-साधक दोनों रूपों में उपस्थित होते हैं, किन्तु देवी-देवता सहायक रूप में ही प्रस्तुत होते हैं। इस सन्दर्भ में भारतेन्दु-युग के नाटककारों की दृष्टि व्यापक रही है। कथानक के समुचित विकास के लिए लोक में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं के शुभ-कार्यों का नायक-नायिका द्वारा स्मरण कराके पाठक को लोकोन्मुख बनाया है। इस कथानक-रूढ़ि को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है --

[अ] - देवी-देवताओं द्वारा सहायता

[ब] - देवी-देवताओं द्वारा परिहास

[अ] <u>देवी-देवताओं द्वारा सहायता</u>

देवी-देवताओं का अवतरित होना एक सार्वभौम-प्रसंग है, जिसको लोक-जीवन में पूर्णरूपेण मान्यता प्राप्त हुई है। 'नन्द विदा नाटक' में कुब्जा

१- डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी -- हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ३।

पर जब कृष्ण के चरण पड़ते हैं, तो उसकी अमर सिद्धि हो जाती है।[1] इस प्रकार कृष्ण का अवतरण सार्थक होता है। 'माधवानल कामकंदला' में कामकंदला विपत्ति के समय सतीत्व-गरिमा से अभिमण्डित नारियों का स्मरण करती है -- 'हे अहिल्या, तारा, द्रौपदी, सीता, मंदोदरी इत्यादि सात्विक स्त्रियों! मेरे पातिव्रत्य-धर्म का रक्षण करो।'[2] देवियों की कृपा के परिणामस्वरूप उसका सात्विक जीवन उसकी इच्छानुकूल संचालित होता है। नायक माधवानल अनेक बार शिव भगवान की स्तुति करता है और घटनाएं उसके मनोनुकूल परिवर्तित हो जाती हैं। राजा विक्रमादित्य के राज्य में शिव पार्वती के मंदिर में शिव-स्तुति[3] और पुनः कार्य-बाधा के समय शिव-स्मरण[4] द्वारा नायक कार्य में नायक को पूर्ण सफलता मिलती है।

'अन्नपूर्णा नाटक' में मन्दिर में शिवजी प्रकट होते हैं। इन्द्र के पिता कश्यप की स्तुति पर शिवजी का आगमन होता है और वे अभीष्ट वरदान देकर इच्छापूर्ति करते हैं।[5] शिव-पार्वती का लोक-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बताते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है -- 'शिव और पार्वती कहानियों में बहुधा रात्रि-प्रदक्षिणा को निकलते हैं। वे दुःखियों की समस्या को हल करते मिलते हैं। पार्वती हठ करती हैं, तो शिवजी को मानना पड़ता है।'[6] 'मयंक-मंजरी' महानाटक में गौरी-मंगला की पूजा का स्मरण नायिका करती है और उसका काम्य-कार्य सम्पन्न हो जाता है।[7] 'विद्या-विनोद नाटक' में सुयोग्य वर प्राप्ति के लिए देवी पूजन करने नायिका प्रतिदिन जाती है, उसका

१- पं० बलदेवप्रसाद मिश्र -- नन्द विदा नाटक, पृ० २६ ।

२- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० १४४ ।

३- वही, पृ० १७० ।

४- वही, पृ० १८५ ।

५- खड्गबहादुर मल्ल -- अन्नपूर्णा नाटक, पृ० ४६ ।

६- डा० सत्येन्द्र -- ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, पृ० १००(ख) ।

७- किशोरीलाल गोस्वामी -- मयंक मंजरी, पृ० ४१ ।

उल्लेख एक पात्रा का प्रकार करती है -- "राजकुमारि! तू नागर नगरी के राजा गौड़ सेन की अविवाहित कन्या है। उसका नाम चित्रा है। वह सदैव से निश्चय किए ही बैठी है कि पूजा करती है। उसी निमित्त राजकुमार आज प्रातः काल देवी मन्दिर में आई थी।"[1]

'चन्द्रा नाटिका' में एक प्रसंग है -- "इस मदिरा का जिसने पान किया है और कौन क्या पियेगा? जिसके प्रभाव से अर्धांग में बैठी हुई पार्वती भी उसका विकार नहीं कर सकतीं, धन्य है, धन्य है, और दूसरा ऐसा कौन है (विचारकर) नहीं-नहीं ब्रज की गोपियों ने भी उन्हें जीत लिया।"[2] यहाँ वर्णित यह कथा चन्द्रावली के गौरव एवं माहात्म्य में अभिवृद्धि करती है। नाटककार ने शुकदेव (महर्षि कृष्णद्वैपायन के तपोनिष्ठ और ब्रह्मज्ञानी पुत्र) से उक्त प्रसंगों को सरल वाक्यों में प्रस्तुत कराया है, ताकि दर्शकों का ध्यानाकर्षण ही और प्रस्तुत होने वाली कथा में उनकी सुरुचि बढ़े। अतएव, प्रेम-व्यंजना में प्रखरता लाने एवं वातावरण को गरिमामय बनाने के लिए शिव एवं गोपियों की ओर संकेत किया गया है। नारद भगवान् को इन संदेशों का वाहक माना जाता है।

चन्द्रावली के अतिरिक्त अनेक नाटकों में नारद भगवान् की उपस्थिति शुभ-संदेशों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। 'सती प्रताप' नाटक में नारद के वाक्यों की प्रस्तुति इस कथन का समर्थन करती है। नारद कहते हैं -- "राजन्! तुम्हारे पास धैर्यधन, सत्यधन, तपोधन आदि अनेक धन हैं। तुम क्यों दीन हो? आज हम तुमको एक अति शुभ-संदेश देने को आए हैं। तुम्हारे पुत्र का विवाह-संबंध हम अभी स्थिर किए जाते हैं। सावित्री के पिता को भी समझा आए हैं कि उनकी कन्या सावित्री अपनी उज्ज्वल

१- गोपालराम गहमरी -- विद्या विनोद नाटक, पृ० २० ।

२- व्यथित हृदय (सम्पादक) -- चंद्रावली नाटिका, पृ० ५७ ।

है, उनके इस अतीन्द्रिय आनन्द के आगे आगे स्वर्ग का अमृत पान और अप्सरा की महा-महाकुतूहल है । इसी उनके लोक भी कुछ भी तुच्छ का पदार्थ मानते हैं ।[1] इन्द्र भी कहते हैं -- "तथापि एक भेद उनके सत्य की परीक्षा होती तो अच्छा होता ।"[2] और इसके उपरान्त सत्य का विस्तार होता है । सत्य की रक्षा के लिए राजा हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट होते हैं, किन्तु वे अपने सत्यमार्ग से विचलित नहीं होते हैं । जब राजा हरिश्चन्द्र शैव्या से कहते हैं कि, "जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा, उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ ।"[3] शैव्या रोती हुई आत्म-घातन में तत्पर हो जाती है और रोहिताश्व का अंचल फाड़ना चाहती है तो श्री महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य इन्द्र और विश्वामित्र वहीं उप-स्थित होते हैं और सबको आशीर्वाद देते हैं । यहाँ परीक्षा पूर्ण होती है । श्री महादेव कहते हैं -- "पुत्र हरिश्चन्द्र भगवान् नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोकपर्यन्त तुमने पाया तथापि मैं आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है, तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्ती होय ।"[4] पार्वती जी शैव्या से कहती हैं -- "पुत्री शैव्या ! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग की स्त्रियां गावें । तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और तुम्हारे घर का कभी त्याग न करे ।"[5] 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की इन्हीं लोकोन्मुख प्रवृत्तियों के कारण अनेक नगरों में इसकी मंच-प्रस्तुति हुई और इसने लोकजीवन को प्रभावित किया है ।

१- रुद्र का शिष्य -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० २६१ ।

२- वही, पृ० २६२ ।

३- वही, पृ० ३०५ ।

४- वही, पृ० ३०६ ।

५- वही, पृ० ३०५ ।

उनका उत्तर नहीं देते हैं। यह ऐसा अपना विचार है कि ग्रामीण जीवन में पशु-पक्षी कहीं तक मनुष्य की बोली बोल सकते हैं। वे कोई न कोई भाषा तो बोलते ही हैं और पक्षी-विज्ञान के अध्येताओं का अनुमान है कि उनकी भाषा का कोई न कोई अर्थ भी होता है किन्तु प्रश्न यह है कि हम उस भाषा को कहाँ तक समझते हैं।"[1]

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इन शब्दों में विचार व्यक्त किया है--
"शकुन्तला में कालिदास ने मृग-शिशु और वृक्षों के द्वारा मनुष्य की जिस एकात्मकता का चित्र खींचकर अपने को विश्व-वन्द्य बना लिया है, वह एकात्मकता [लोक] गीतों में [और लोक कथाओं में भी] सर्वत्र प्रकट है। मेघदूत में मेघ सन्देशवाहक है। गीतों में भौंरा, कोयल, तोता, पपीहा, श्यामा-पक्षी, कौआ आदि अनेक चर-अचर हैं, जो मनुष्यों के सहचर की तरह काम करते दिखाए गए हैं।"[2] अतएव पशु-पक्षी विविध प्रसंगों में नायक-नायिका के सहयोगी बने हैं।

"दमयन्ती स्वयंवर" और "नल दमयंती" नाटक में हंस द्वारा प्रेम-संबंध की स्थापना होती है। प्रेम-स्थापना के उपरान्त स्वर्णहंस संदेशवाहक का कार्य भी करता है जिससे नल और दमयंती के मध्य प्रेम-भावना का प्रांजल रूप में विकास होता है। "माधवानल कामकंदला" में मैना और तोता मानव-वाणी में वार्तालाप करते हैं और यह सूचना प्रसारित करते हैं कि माधवानल का किसी प्रकार कल्याण हो तथा राजा विक्रमादित्य के माध्यम से यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो, इस पर विचारणा प्रस्तुत करते हैं। "रणधीर प्रेम मोहिनी" नाटक में प्रेममोहिनी जब हंस सारिका पक्षी स्वप्न में देखती है, तो उसके प्रति उसका प्रेम उमड़ता है, यहीं हंस पक्षी उसके जीवन में एक सुंदर

१- बी०ए० बाटकिन -- द पाकेट ट्रेजरी आव अमेरिकन फोकलोर (यू०एस०ए०), सन् १९५७, पृ० २६२ ।

२- पं० रामनरेश त्रिपाठी -- कविता कौमुदी (तीसरा भाग), पृ० ८९ ।

पुरुष के रूप में उसके जीवन में पदार्पण करता है। इस प्रकार नारी प्रेम-कार्य की पूर्णता नाटक में पक्षी द्वारा प्राप्त होती है। सीताहरण नाटक में नाटककार ने काक पक्षी को इन्द्र के पुत्र जयंत के रूप में चित्रित किया है और पशु-पक्षी द्वारा कथा-कार्य की वृद्धि को अभिलषित दिशा प्रदान की गई है। राजा इन्द्र का पुत्र जयंत एक पक्षी-विशेष है। उसके अनेक पक्षी पाले हैं, जिन्हें वह शिक्षा प्रदान करता है। उसके पास एक काग भी था। उसने सीता को राम के साथ देखा तो राम की परीक्षा के लिए काग को भेजता है, जो कि सीता जी के वक्षस्थल पर चोंच मारता है। इस प्रकार इस प्रसंग द्वारा दर्शकों को राम की प्रेम-भावना का बोध मिलता है।

अभिशाप, वरदान और तन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित रूढ़ियाँ

लोक-कथानकों में किसी योगी द्वारा अभिशाप या किसी ब्राह्मण देवता द्वारा वरदान करने के प्रसंग सहज रूप में विद्यमान रहते हैं। इसी कारण ऋषि, मुनि, योगी, सन्यासी, ब्राह्मण, औलिया, फ़कीर आदि लोक के प्राणी द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे हैं।

अभिशाप-वरदान की ही भाँति लोकमानस तन्त्र-मन्त्र के प्रति भी श्रद्धा-नत रहा है। यहाँ तन्त्र-मन्त्र का अर्थ जादू-टोना से है। भारतेन्दु-युग के नाटककार लोकजीवन का परिष्कार कर युगानुकूल सन्देश प्रदान करना चाहते थे, अतः उन्होंने उपर्युक्त रूढ़ियों का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है।

अभिशाप

"यह 'तप्ता संवरण' नाटक के प्रथमांक में तप्ता तथा संवरण का साक्षात्कार मात्र होता है। दूसरे अंक में वार्तालाप और गौतम का आगमन होता है। संवरण के प्रणाम न करने पर गौतम ऋषि रुष्ट होकर अभिशाप देते हैं कि "वह जिसके ध्यान में है, वही उसे भूल जाए।"[1] यह अभिशाप प्रसंग शकुन्तला

१- श्रीनिवासदास -- तप्ता संवरण, पृ० १३ ।

की कौन विख्यात कहानी पर आधारित है। 'शकुन्तला नाटक नवीन' की भूमिका में नाटककार लाला गणेशप्रसाद शास्त्री ने लिखा है -- "राग - रागिनी में व ग़ज़लों में व शेर रुबाई में महाभारत और श्रीमद्भागवत व वाल्मीकि रामायण का सार निकालकर और और प्राचीन पुराणों का मतलब लेकर और कालिदास कविश्वर के शाकुंतल नाटक की छाया लेकर यह नाटक तैयार किया गया है।"[1] अतः इस नाटक द्वारा शकुंतला की कथा को जनसाधारण तक पहुंचाने का विनम्र प्रयास किया है। शकुन्तला राजा दुष्यन्त के प्रेम-चिन्तन में निमग्न रहती है। अतएव दुर्वासा ऋषि को प्रणाम नहीं कर पाती है और वे शाप दे देते हैं कि जिसकी याद में खोकर तुमने मेरा अपमान किया है, वही तुम्हें भूल जायेगा।

'मालती बसंत' नाटक में बसंत मंजरी अपनी प्रियतमा की याद के कारण नारद को प्रणाम नहीं करता है। नारद जी रुष्ट होकर शाप देते हैं -- "मैं शाप देता हूं कि जिसके ध्यान में तन-मन की सुधि नहीं, वह तुझे न पहचाने।"[2]

'यौवन योगिनी' नाटक में मायावती शंकराचार्य से कहती है कि -- "पृथ्वीपति पृथ्वीराज का चरण छोड़कर किसी के लिए मन नहीं है, तो मैं इसी के बल पर तुम्हें शाप देती हूं जा। तेरी अकाल मृत्यु होगी।"[3]

'विवाहिता विलाप' नाटक में नायिका चम्पा कहती है कि -- "हमारा रोम-रोम उस ब्राह्मण को शाप देता है, जिसने जन्मपत्री को जोड़कर विवाह कराया था।"[4]

१- लाला गणेश शास्त्री -- शकुन्तला नाटक नवीन, पृ० १।

२- अमर प्रसाद -- मालती बसंत, पृ० ७।

३- गोपाल राम गहमरी -- यौवन योगिनी, पृ० ११।

४- मिट्ठीलाल -- विवाहिता विलाप, पृ० २१।

रामायण से संबंधित नाटकों में श्रवणकुमार के पिता द्वारा राजा दशरथ को शाप मिलना, प्रतापभानु को ब्राह्मणों द्वारा राक्षस होने का शाप मिलना तथा प्रेमघन के नाटकों में शाप द्वारा भाग्य के पक्ष में परिवर्तित होने के अनेक प्रसंग भारतेन्दु-युग के नाटकों में उपलब्ध होते हैं।[1] अतः अभिशाप द्वारा विविध प्रभावों की अभिव्यंजना तत्कालीन नाटककारों ने की है और कथानक को प्रभावित तथा अभिलषित दिशा प्रदान की है।

वरदान

अभिशाप की भाँति वरदान के प्रति भी लोक-जीवन में सदैव से प्रगाढ़ आस्था रही है। कथा-प्रवाह में अभिशाप और वरदान पूर्वकथित तथ्य की पुष्टि करते हैं। 'तप्ता संवरण' में संवरण के प्रणाम न करने पर गौतम ऋषि अभिशाप देते हैं और फिर प्रार्थना करने पर वरदान देते हैं कि [illegible] स्पर्श करने से यह शाप दूर हो जायगा।[2] 'शकुन्तला' की कथा से यह प्रसंग मिलता-जुलता है। यही वरदान 'शकुंतला नाटक नवीन' में शकुंतला को मिलता है।[3]

'सीता स्वयंवर नाटक' में वरदान से ही अहिल्योद्धार होता है और शिला-रूप से वह नारी रूप में परिवर्तित हो जाती है।[4] शापवश किसी प्राणी का पत्थर में एवं वरदान से पत्थर का पुनः प्राणी में परिवर्तित होना एक प्रचलित लोक रूढ़ि है। 'दमयंती स्वयंवर' नाटक में एक स्थल पर उल्लेख है कि श्रीशंकर महोदय के पूजन से प्राप्त वरदान से गर्भाधान का [illegible]

१-(क) दामोदर शास्त्री सप्रे -- रामलीला, नाटक ; (ख) ज्वाला प्रसाद-- सीता वनवास नाटक ; (ग) नन्दीदीन दीक्षित -- सीताहरण नाटक।
२- श्रीनिवासदास -- तप्ता संवरण, पृ० ७।
३- लाला गणेश प्रसाद -- शकुंतला नाटक नवीन, पृ० १८।
४- नन्दीदीन दीक्षित -- सीता स्वयंवर नाटक, पृ० [illegible]।

नहीं सहना पड़ता है।[१] 'दैवी देवताओं द्वारा सहायता' लोक रूढ़ि में महादेव भगवान् द्वारा वरदान प्राप्त करने के अनेक विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। अतः ये रूढ़ियां एक दूसरे की पूरक हैं। 'प्रेमसुंदर' नाटक में शिव से वरदान प्राप्त होने का उल्लेख इस प्रकार है --" मैं गिरिजापति शंभु सों पायो है वरदान, रूप जहाँ जो धरिस कौं, उसे न कोई जान।"[२] और नायिका शिव भगवान् से प्राप्त वरदान का सुंदर सामंजस्य करती है।

तन्त्र-मन्त्र

भारत में मन्त्रशास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण माना गया है। "मन्त्र से मतलब उन शब्दों से है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन की अद्भुत शक्ति मानते हैं।"[३] तन्त्र-मन्त्र की प्राचीनता और इसके माध्यम से व्यक्त विश्वास का विश्लेषण डा० आर०एच०बान गुलिक[४] ने किया है।

१- बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर, पृ० २२।

२- खिलावन लाल -- प्रेमसुंदर, पृ० २५।

३- राहुल सांकृत्यायन -- गंगापुरातत्वांक, पृ० २१४।

४- " Mantrayan is the method through which one can reach salvation by muttering certain words and pharases. The roots of this curious system may be traced back to very old, probably even pre-Indo-Aryan-days. This belief seems to be particularly rooted in the propensity towards magic existing among the ancient aboriginal tribes of India. Many of these ancient conceptions were adopted by the Indo-Aryan conquerors and made an integral part of their own conceptions. In different parts of India, however, situated outside the centre of Indo-Aryan culture where the aborigional population was better able to preserve its own character."

--डा० सत्येन्द्र -- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ५८१।

उनके अनुसार मंत्रयान वह पद्धति है जिसके माध्यम से कुछ शब्द और वाक्य के चुपचाप उच्चारण से और व्यक्ति अपनी समस्याएं समाधान करने का प्रयास करता है। इस विचित्र पद्धति का संबंध पूर्वकाल सम्भवतः पूर्व भारतीय आर्य काल से है।"

भारतेन्दु युगीन नाटकों में इस रूढ़ि का प्रयोग भी नाटककारों ने अपने अभिप्राय की पूर्ति करने के लिए किया है। 'उषा-हरण' नाटक में मंत्रबल से एक शिला का आह्वान करके उसे युद्ध क्षेत्र में रख देने की घटना का विवरण प्रस्तुत है।[1] 'नन्द विदा नाटक' में जब राधा श्रीकृष्ण के वियोग में यमुना में डूबकर आत्महत्या के लिए प्रेरित होती है, तो वृन्दा कहती है कि "मैं माया के बल से अभी श्यामसुंदर के पास जाती हूं और उनको विरह-व्यथा सुनाकर साथ लिए आती हूं।"[2] 'गोपीचन्द नाटक' में सम्मोहन मन्त्र के बल पर योग की शिक्षा देने वाला मछेन्द्रनाथ कामकला के प्रभाव में आकर भोग में लिप्त हो जाता है।[3] दूसरे 'गोपीचंद' नाटक में मन्त्र द्वारा आकाश के मध्य से जल गिराकर राजा को तोता बना देना, हाथ में लिए फूल को तोते पर फेंककर खूंटी पर बिठा देना, मंत्र पढ़कर घोड़े को आकाशमार्ग की ओर ले जाना एवं वशीकरण मंत्रपाठ द्वारा घटनाओं को संचालित किया गया है।[4] 'कल्पवृक्ष नाटक' में एक स्थल पर नायक की उक्ति है -- "माया बल से एक क्षण में सब कुछ रथ प्रस्तुत कर सकता हूं।"[5]

'माधवानल कामकंदला' में मंत्र-विद्या से माधव मधुकर के रूप में परिवर्तित

१- चन्द्र शर्मा -- उषा हरण, पृ० १४ ।

२- बलदेवप्रसाद मिश्र -- नंद विदा नाटक, पृ० ५२ ।

३- श्रीमती लाली -- गोपीचन्द नाटक, पृ० ४७ ।

४- कृष्णा जी हनामदार -- गोपीचंद नाटक, पृ० २६ ।

५- खड्गबहादुर मल्ल -- कल्पवृक्ष नाटक, पृ० ५३ ।

ही जाता है।[1] 'वेणु संहार' नाटक में मंत्र द्वारा ही वेणु का प्राणान्त हो जाता है।[2] अस्तु, हिन्दी-साहित्य में 'तन्त्र-मन्त्र' से सम्बन्धित विश्वास समाविष्ट हुए हैं। इस रूढ़ि के प्रयोग से कथा-प्रवाह को एक सशक्त निश्चित आधार मिला है और नाटककार अपने उद्देश्य की सीमा में कथा को संयोजित करने में सफल हो गये हैं।

अन्य रूढ़ियाँ

उपर्युक्त रूढ़ियों के अतिरिक्त अन्य अनेक रूढ़ियों का भी प्रयोग भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने किया है। इन रूढ़ियों का सम्बन्ध लौकिक निजन्धरी कथा-कहानियों से है। अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण नाट्य-साहित्य का ~~अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण~~ इनसे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। इस कोटि की विचारणीय रूढ़ियां निम्नलिखित हैं :--

(अ) नायक या नायिका के धरती में समा जाने की उक्ति
(ब) भावों का मानवीकरण
(स) पात्रों के गुणानुसार नामकरण
(द) सिंहलद्वीप का चित्रण
(य) प्रिया को प्राप्त करने के लिए जोगी-वेष धारण करना
(र) सौतिया डाह

(अ) नायक या नायिका के धरती में समा जाने की उक्ति

रामायण का प्रमुख प्रसंग है कि महाराजा रामचन्द्र एवं उनके पुत्रों लव-कुश का वार्तालाप मिलन होता है तो राम महारानी सीता का साक्षात्कार

१- शालिग्राम वैश्य -- माधवानल कामकंदला, पृ० ४७।
२- पं० बालकृष्ण भट्ट -- वेणु संहार, पृ० ५८।

करने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। सीता जी लज्जा से क्षुब्ध हो जाती हैं और धरती में समा जाती हैं। इस प्रकार से दिव्यलोक को प्राप्त करती हैं। रामकथापरक 'रामलीला नाटक', 'सीताहरण नाटक' आदि में इस प्रसंग को समुचित स्थान मिला है। 'मदन मंजरी नाटक' में मंजरी कहती है -- "हाय! पृथ्वी माता तू सीता जी की तरह मुझे भी क्यों नहीं स्थान देती।"[1] 'बृहन्नला' नाटक महाराज विराट् के सामने [illegible] महाराज धर्मराज युधिष्ठिर (कंक भट्ट) महाराजा विराट् की परिस्थिति से अवगत कराते हुए शान्ति और धैर्य धारण करने के लिए कहते हैं, किन्तु विराट् कहते हैं -- "इस जगत में हमारा कोई नहीं है। हाय! हमारी सहायता करने को कोई भी तैयार नहीं होता। हम राज्यच्युत हो गये, हमारा सर्वनाश हो गया। पृथ्वी देवी स्थान दो, हम तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करें।"[2] 'सती चरित्र नाटक' में दुर्जन नामक पात्र कहता है -- "हे धरती माता! मुझे स्थान दो मैं तुझमें समा जाऊँ।"[3] 'रणधीर प्रेममोहिनी' में प्रेममोहिनी की भी यही उक्ति है -- "हाय धरती फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊँ।"[4] 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' में हरिश्चन्द्र विश्वामित्र की दक्षिणा न दे पाने के कारण व्यग्र हैं -- "देखो काशी में आकर लोग संसार के बन्धन से छूटते हैं, पर हमको यहाँ भी हाय-हाय मची है। हा! पृथ्वी तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुंह फिर किसी को न दिखाऊँ।"[5] इस प्रकार यह लोकरूढ़ि अनेक नाटकों में प्रयुक्त हुई है।

१- अमान सिंह गोटिया एवं जागेश्वर व्यास -- मदनमंजरी नाटक, पृ० २७।

२- पं० बालकृष्ण भट्ट -- बृहन्नला, पृ० ३२।

३- हनुमंत सिंह रघुवंशी -- सती चरित्र नाटक, पृ० ४२।

४- राधाकृष्ण दास -- दुःखिनी बाला रूपक, पृ० ५३। (राधाकृष्ण-ग्रंथावली)।

५- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७२।

सम्बन्ध संथालों के गुरु कामरु से है। इसे कामरूप या कामरु देश भी कहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यहां केवल सुन्दरी नारियां हैं और ये जादू-टोना तथा वशीकरण कार्य में निपुण होती हैं, अतः इस देश को जादू का देश भी माना जाता है। वैरियर इल्विन ने लिखा है कि भारतीय लोक-कथाओं में जादू के देश की नारियों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। यह देश अत्यधिक समृद्धिशाली है। वहां नारियां ही नारियां हैं और उन्हीं का राज्य है। उनकी इच्छा से ही वहां के कार्य संचालित होते हैं।[१] गोपी-चंद नाटक में योगी मच्छीन्द्रनाथ अपना महाज्ञान भूल कर 'त्रियादेश' में फंस जाते हैं। वहां वे भोग-विलास में लिप्त हो जाते हैं। गुरु गोरखनाथ की कृपा से उनका उद्धार होता है। कुन्दन सेन और सारिका के मध्य वार्ता-लाप त्रियादेश के स्वरूप का स्पष्टीकरण करता है। "कुन्दन सेन -(घोड़े पर बैठा हुआ प्रवेश करके। -- अरे मैं कहां जाता था और कहां आ गया। काम्य की नदी के पार उतर कर मैं जिस किनारे पर नहीं आना चाहता था, उसी किनारे पर घोड़े की दौड़ से चला आया। मैं जानता हूं कि काम्य की नदी को उतरने के पीछे कामरू देश की सीमा आती है। निश्चय ऐसा ही है, अब मुझको यहां पर अधिक न रहना चाहिए। जल्दी से घोड़े को फेर कर दूसरी पार जाऊं। घोड़े को फेरना चाहता है कि सारिका आकाश में आनकर गाती है, कुन्दन आश्चर्ययुक्त होकर सुनता है। सारिका -- रे मनुष्य! सब्र कर! कहां जाता है? एक बार इस काम्य नदी के इस पार

१- " Traditions about a land of woman, a land too given upto magic are widely distributed in Indian folk-lore. By the Santal this land is associated with their great Guru Kamru and bears his name. The country is very rich and fertile, and there only women living, or else the women predominate and no one is able to go there and stay."

(Myths of Middle India - Verrier Elwin Page 458)

(नेपथ्य में) अरे राजभवन के लोगों ने बड़ा बुरा किया कि बिना पहिचाने कांचीपुरी के महाराज गुणसिंधु के पुत्र राजकुमार सुन्दर को कारागार में भेज दिया -- क्या किसी ने उसे नहीं पहचाना ? मैं अभी जाकर महाराज से कहता हूँ कि यह वही है जिसके बुलाने के हेतु आपने मुझे कांचीपुर भेजा था।

विद्या (हर्ष से) -- यह कौन अमृत की धार बरसाता है। क्या भगवान ने फिर दिन फेरे क्या ? अब मैं भी छत पर चढ़कर देखूं कि बाहर में क्या होता है।"[1]

'मयंक मंजरी', 'यौवन योगिनी', 'अमर ज्योति भंवर सिंह', 'प्रेमसुंदर', 'माधवानल कामकंदला' आदि अनेक नाटकों में इस रूढ़ि को समाविष्ट किया गया है।

(२) <u>सौतिया डाह</u>

अनेक कथानकों में किसी एक व्यक्ति की दो पत्नियों के मध्य गृह-कलह की घटनाएं उपलब्ध होती हैं। विमाता द्वारा सौत की सन्तान के प्रति विद्वेष और उसके विरुद्ध षड्यंत्रों की आयोजना लोककथा का प्रमुख अभिप्राय है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने ध्रुव के जीवन का आधार ग्रहण करके नाट्य-रचना की, जिसमें सौतियाडाह की रूढ़ि समाविष्ट है। राजा बड़ी रानी के आग्रह से सन्तान प्राप्ति के लिए दूसरा विवाह करता है। नयी रानी बड़ी रानी को घर से निकलवा देती है और वन में उसे पुत्र-रत्न प्राप्त होता है। छोटी रानी के भी पुत्र होता है और उसे वह राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाना चाहती है।[2] इस प्रकार सौतिया डाह ध्रुव-उपाख्यान के निर्माण में

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- विद्यासुंदर, [illegible], पृ० ३५२ ।
२- क- दामोदरशास्त्री सप्रे -- बाल खेल या ध्रुव चरित्र ।
ख- गंगाराम -- ध्रुव तपस्या ।

रूढ़ि-परिष्कार का स्वरूप

भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य में प्रयुक्त रूढ़ियों के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दुयुगीन के नाटककारों ने अपनी नाट्य-रचना में किसी एक या अनेक रूढ़ियों का आलम्बन ग्रहण किया है, और उनकी रचना लोक-ग्राह्य और उपयोगी हो सकी है। यहाँ यह विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि भारतेन्दु युग के नाटककारों ने लोक में व्याप्त रूढ़ियों को ग्रहण तो किया है किन्तु उनका अन्धानुकरण नहीं किया है, अपितु उन्होंने उन्हीं रूढ़ियों को अपनाया है, जो लोकहित को उत्प्रेरित कर सकती हैं।

ऐसी रूढ़ियाँ जो कि लोकमानस को पतनोन्मुख करती हैं, उनका भारतेंदु युग के नाटककारों ने उग्र विरोध किया है। अतएव, परिष्कार की यह भावना सामयिक लोक-जीवन को यथार्थ-दृष्टि प्रदान करने में सक्षम रही है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक रचना की आवश्यकता पर विचार करते हुए लिखा है --"समाज (लोक) -- संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य-कर्म है। देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।"[1]

लोक में ओझाई एवं विवाह में जन्मपत्री के मिलान की प्रचलित रूढ़ि की अनुपयुक्तता पर प्रकाश डालते हुए 'विवाहविनोद' नाटक की भूमिका में नाटककार कहता है --"ओझाई, देवाई पर विश्वास करने वाले पुत्रोत्पादन की अभिलाषा, पाँच ब्याह कर स्त्रियों का जीवन संहार करने वाले मूर्खों

१-- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- नाटक निबंध, पृ० ४।

की मूर्खता और मित्र टिप्पणी की तुलना और गणना करके अनमेल तथा बेजोड़ व्याह करने या कराने वालों की निष्फलता, वर-कन्या के परस्पर प्रसन्न और उचित प्रेम एवं एक विद्वान् और नीति-निपुणता स्त्री की शिक्षा से पूर्ण और सच्चा बालक द्वारा उसके सौंदर्य और पातिव्रत्य-धर्म का निर्दोष प्रकृति भली-भांति दिखाने का उद्योग किया गया है।"[1] सती-चरित्र में नाटककार कहता है -- "सपूत वही है, जो अपनी कुल परंपरा पै चले। अपने बाप-दादा और परदादा के किए हुए कामों को कर और अपने पुरखाओं की चलाई रीति को न छोड़े।"[2] यहां रीति का अर्थ उपादेय रीतियों से ही ग्रहण करना वांछित होगा। 'भारत दुर्दशा' में रोग (रोग का मानवीकरण) कहता है -- नजर, श्राप, भूत, प्रेत, टोना सब मेरे ही रूपान्तर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरवनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं।"[3] 'हिन्दी-उर्दू नाटक' में नाटककार स्पष्ट उद्घोष करता है -- "जो रस्में अच्छी और मुनासिब हों, उनके जारी रखने में हमको कोशिश करना चाहिए। उनको छोड़ना मुनासिब नहीं। परन्तु जो सिर्फ किसी खास गरज से जारी की गई थीं, और जो गरज कि अब उनसे नहीं निकलती, उनको छोड़ देना चाहिए।"[4] इस तथ्य का स्पष्टीकरण 'दुःखिनी बाला' में नाटककार ने प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया है -- "जो चाहिए कि जो बाप-दादे करते आए हैं, वही करना चाहिए, अवगुण का न लेना चाहिए। फिर यह बतलाइए कि 'आप लोग कौन-कौन सी बातें बाप-दादा की करते हैं? वेद पुराण शास्त्र में किसी में जन्मपत्री देख के विवाह करना नहीं लिखा है। देखिए, श्री रामचन्द्र ने जन्मपत्री नहीं देखी थी और कृष्णचंद्र ने। पुराने शास्त्रों से यह जाना जाता है कि आगे स्वयंवर इत्यादि करते

१- गोपालराम गहमरी -- विद्याविनोद नाटक, भूमिका।
२- हनुमंत सिंह -- सती चरित्र, भूमिका।
३- पं० प्रतापनारायण मिश्र -- भारत दुर्दशा, पृ० ५।
४- रत्नचन्द्र -- हिन्दी-उर्दू नाटक, भूमिका।

विवाह होता था, उन्हें भी जन्मपत्री नहीं दिखाई जाती थी । फिर उनके पश्चात् लोगों ने यह बात बताई या नहीं ? या तो उनकी मूर्ख प्रकृति था काल का प्रभाव । यदि वे मूर्ख थे तो उनका अनुकरण करना भी मूर्खता है और यदि वे ज्ञानानुसार करते थे, तो अब वह काल नहीं है । जन्मपत्री के ऊपर निर्भर होकर अपने संतानों को अंधकूप में डालना भी बड़ी मूर्खता है ।[1] 'जय नार सिंह' में चिकित्सा न करके झाड़-फूंक द्वारा बच्चों का मृत्यु द्वारा प्राणघात करना दिखाया गया है । त्रिभुवन चौधरी की अनपढ़ पत्नी रमापा औषधि की अपेक्षा झाड़-फूंक पर विश्वास करती है ।[2] परिणामतः उसके इकलौते पुत्र का प्राणान्त हो जाता है । अतः, भारतेन्दु युग के नाटककारों ने लोक में प्रचलित रूढ़ियों के अतिचारी रूप का विरोध कर लोकमानस को नई दिशा प्रदान की है ।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में व्याप्त लोक-रूढ़ियां उस युग के नाटकों के लोक रूप के निर्माण में सहायक रही हैं । लोक-रूढ़ियाँ अधिकांश रूप से लोक-कथाओं की ही देन हैं और इनका लोक-साहित्य में अनन्त काल से प्रभावी स्थान रहा है । लोक-रूढ़ियों के प्रयोग से नाटककार अपने अभिलषित भावों और विचारों को लोक-ग्राह्य बना रहे हैं ।

इस प्रकार लोक-रूढ़ियों ने भारतेन्दुयुगीन नाटकों के शिल्प को काफी दूर तक प्रभावित करके उन्हें अधिकाधिक लोकोन्मुख बनाने में योग प्रदान किया है ।

---o---

१- राधाकृष्ण दास -- दुःखिनी बाला -- भूमिका ।

२- देवकीनन्दन त्रिपाठी -- जय नार सिंह की, पृ० ४-५ ।

अध्याय - ४

भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य में लोकभाषा का स्वरूप

भारतेन्दु-युग की भाषा नीति

भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार लोकमानस को प्रेरित-उद्वेलित करके एक ओर यदि भारतीय सांस्कृतिक गौरव से उसे अवगत कराने के लिए प्रयासरत थे तो दूसरी ओर वे नवोन्मेषी विचारधारा से सम्बन्धित करके उसको विकासोन्मुख कर रहे थे।

भारतेन्दु युग में नाटक युगबोध का एक सशक्त माध्यम बनकर आया। "तत्कालीन परिस्थितियों में यही स्वाभाविक था। नाटक भौतिक जगत से घनिष्ठतम रूप से सम्बद्ध है। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम रचना-विधान है। दृश्य काव्य होने के कारण यह भावों और विचारों को सामाजिकों तक प्रेषणीय बनाने का यह अत्यधिक समर्थ साधन है। विभिन्न देश काल के व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की अवतारणा जितनी अच्छी तरह नाटक में की जा सकती है साहित्य के किसी अन्य रचना-प्रकार के माध्यम से उतनी अच्छी तरह नहीं की जा सकती। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के लेखक अपनी समसामयिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक गतिविधि के प्रति पूर्ण जागरूक थे। इनकी अभिव्यंजना के लिए नाटक से बढ़कर और कौन रचना-प्रकार अपनाया जाता।"[१]

लोकमानस तक अपने उद्देश्य को सम्प्रेषित करने के लिए उन्होंने लोक-कथाओं एवं अनेकानेक लोक-रूढ़ियों की व्यापक पृष्ठभूमि का अवलम्बन ग्रहण किया, किन्तु उनका यह कार्य लोकजीवन के अनुकूल संवेदनशील भाषा के अभाव में असाध्य-सा था। अतएव भारतेन्दु युग के नाटककारों ने लोकमानस से सजीव सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लोकभाषा का भरपूर आश्रय ग्रहण किया।

१- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० २१।

भारतेन्दु-युग के पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने गद्य में साहित्य रचना प्रारंभ कर दी थी । पद्यमय साहित्य-सर्जना की सीमित प्रवृत्ति में विकास की स्थिति परिलक्षित होने लगी थी और धार्मिक भावना भी गद्य के माध्यम से प्रस्फुटित होने के लिए मार्ग खोज रही थी । विट्ठलनाथ और गोकुलनाथ की पुष्टिमार्ग सम्बन्धी कथित वार्ताएं, सदासुख लाल, लल्लू लाल और सदल मिश्र की नीति-धर्म सम्बन्धित आख्यायिकाएं, सैयद इंशा की प्रयोगात्मक ठेठ कहानी, शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह की क्रमश: ऐतिहासिक और साहित्यिक कृतियां गद्य का शिलान्यास ही नहीं कर चुकी थीं वरन् उसके निर्माण की ओर भी अग्रसर हो चुकी थीं । आवश्यकता इस बात की थी कि गद्य में पद्य की भांति जन-जन तक सम्प्रेषित होने की क्षमता हो, अत: गद्य भी उतना ही लोकोन्मुख हो जितना कि पद्य । इस प्रकार गद्य का निर्माण भारतेन्दु युग के लेखकों ने किया ।

भारतेन्दु-युग के लेखकों में लोकचेतना के प्रति अगाध निष्ठा होने के कारण उनके द्वारा गद्य की परिष्कृत शैली ही सम्पादित हुई । भारतेन्दु-युग के पूर्व लेखकों का दृष्टिकोण ही भिन्न था । गोकुलनाथ और सदासुख लाल का आदर्श धार्मिक विचारों का प्रचार करना था । अतएव गद्य के सौन्दर्य की ओर वे ध्यान नहीं दे सके । इसी प्रकार लल्लू लाल और सदल मिश्र पाठ्यपुस्तकें लिखते हुए भी उपदेशात्मक प्रवृत्ति की अवहेलना नहीं कर सके । मुंशी इंशा अल्ला खां ने तो मनोरंजन के लिए भाषा के साथ विनोदात्मक प्रवृत्ति का सहारा लिया । शिवप्रसाद और लक्ष्मण सिंह ने गद्य की रूपरेखा पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था , किन्तु दोनों अपने-अपने आदर्शों के व्यूह में उलझे हुए थे । शिव-प्रसाद ने अरबी-फ़ारसी के शब्द-समूह को समाविष्ट कर भाषा का विकास करना चाहा तो लक्ष्मण सिंह ने ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग किया । इस प्रकार सहज गद्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी भारतेन्दु-युग के पूर्ववर्ती लेखक असफल रहे ।

"गद्य के इस परिष्करण में बहुत-सी शक्तियाँ काम कर रही थीं। पहली तो यह थी कि शृंगार के बोझ से लदी हुई ब्रजभाषा की कविता ने एक ही विषय के पिष्टपेषण से अरुचि उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार कविता जो साहित्य की एकमात्र शासिका थी अपने महत्व के पद से गिरने लगी और रुचि वैचित्र्य के लिए गद्य की आवश्यकता ज्ञात हुई। दूसरी बात यह थी कि साहित्य के अंगों का निरूपण पद्य में विस्तारपूर्वक स्पष्टता के साथ नहीं हो सकता था, इसलिए भी गद्य की आवश्यकता हुई। तीसरी बात यह थी कि अंग्रेजी शासन ने भावों की परिधि बहुत विस्तृत कर दी थी और अनेक विषयों की विवेचना के लिए गद्य का सहारा लेना अनिवार्य हो गया था। साथ ही साथ अंग्रेजी और बंगला के साहित्य के सम्पर्क में आने से हिन्दी साहित्य ने उनके नाटक और उपन्यास के वैभव की ओर दृष्टिपात कर उसी मार्ग का अवलम्बन भी किया। इसके लिए गद्य की आवश्यकता हुई और साहित्यिक गद्य के निर्माण की भावना प्रधान रूप से सामने आई। ईसाइयों के धर्मप्रचार और स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों ने भी परिष्कृत गद्य के लिए मार्ग तैयार किया।"[1]

भारतेन्दु ने लोकसाहित्य को बढ़ावा दिया क्योंकि बिना इसके भाषा-विषयक प्रगति नहीं हो सकती थी। लोक साहित्य को योग देने का अर्थ था कि जन बोली के उन शब्दों को अपने युग के साहित्य में प्रयुक्त किया जाए, जिन्हें देशज कहा जाता है। क्योंकि बिना इन शब्दों के ग्रहण किए लोक-साहित्य की महत्ता ही लुप्त हो जाती है। भारतीय संस्कृति का आभास एवं देश की दयनीय स्थिति का परिचय इन्हीं देशी बोलियों के माध्यम से संभाव्य हो सका था।

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने लोकदृष्टि को प्रखर बनाने के लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया, परिणामतः भाषा में अत्यधिक सहज प्रवाह आ गया। पं० बालकृष्ण भट्ट के शब्दों में --" अब एक प्रश्न इसके सम्बन्ध में और

१- डा० रामकुमार वर्मा -- साहित्य चिन्तन, पृ० ८४-८५।

उठता है कि यदि भाषा की धारा ऐसे अपरिवर्तनीय ढंग पर इतने जोर-शोर के साथ बह रही है कि उसमें चूं भी नहीं कर सकते तो किसी समय के अच्छे-अच्छे लेखकों का क्या दबाव या असर उस पर होता है ? । इस प्रश्न का उत्तर सहज में नहीं मिल सकता है। पुरानी हिन्दी को लीजिए, पुराने ठेठ हिन्दी शब्दों को कोई अच्छी तरह सोच-विचार कर लिखने वाला फिर से जिलाकर समाज में प्रचलित कर सकता है। अपनी निज की की भाषा के कामकाजी शब्दों को मर जाने या मृतक प्राय: होने से बचाना अच्छे लेखकों का काम है। बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना-सा कर डालना, जिससे भाषा दिन-प्रतिदिन अमीर होती जाए यह भी एक बड़ा काम है .... हमारे देश में ही व देखते अंग्रेजी मेमों ने हिन्दुस्तानी गहनों का पहनना आरंभ कर दिया, जैसे सोने की चूड़ियां जड़ाऊ, कंठे आदि उस तरह यदि हम अपनी मातृभाषा को अंग्रेजी भाषा के शब्दों से आभूषित करें तो क्या क्षति है।"[1] परिणामत: "खड़ी बोली के माध्यम के रूप में भारतेन्दु-युग की चेतना ऐसी उठ खड़ी हुई, जैसे देश शताब्दियों के अलसाए बदन को फाड़-पोंछकर खड़ा हो गया हो। खड़ी बोली के गद्य ने नवीन दृष्टि को अपनाया और इस प्रकार यह सम्पूर्ण गद्य-साहित्य उसकी चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतीक बन गया।"[2]

अरस्तू ने ड्रामा का चौथा तत्व भाषा बताया है। वे शब्द जो पात्रों के रूप में मंच पर अभिनेता बोलता है। यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा पात्र अपने विचार और अंतत: नाटक के विचार दर्शक तक सम्प्रेषित करते हैं। नाटक की भाषा सीधी और सरल होती है, जो तुरन्त अपने अर्थ के साथ दर्शक की समझ में आ जाए। नाटक, उपन्यास या कविता की पुस्तक नहीं है कि उसकी व्याख्या के अर्थ समझने के लिए दर्शक रंगभवन में बैठकर नाटक के पृष्ठ उलट कर देख सके।"[3]

१- हिन्दी प्रदीप -- जून, १८८५, पृ० ७।

२- डा० सुशीला धीर -- भारतेन्दुयुगीन नाटक, पृ० ४७।

३- डा० लक्ष्मीनारायण लाल -- रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ० ११६।

भारतेन्दु युग में नाट्य-रचना के पीछे नाटककारों का उद्देश्य यही था कि प्रत्येक स्तर के व्यक्ति को सामयिक शिक्षा उपलब्ध हो सके, अतः उनके द्वारा सहज और स्थानीय बोली से युक्त भाषा प्रयुक्त करना स्वाभाविक हो गया था ।

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने भाषा-तत्व को निश्चित अत्यन्त प्रमुखता प्रदान की । वे यह भलीभांति जानते थे कि कथावस्तु, पात्र तथा चरित्र विकास के लिए संवादों में प्रयुक्त भाषा ही एक ऐसा उपकरण है, जिससे एक ओर कथावस्तु का विस्तार होता है तो दूसरी ओर पात्रों का चारित्रिक विकास होता है । अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा --"भारतेन्दु के माध्यम से खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य में एक बड़ी क्रान्ति थी ।"[१]

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख नाटककारों की भाषा-नीति

भारतेन्दु

भारतेन्दु के साहित्यिक नेतृत्व ग्रहण करने की अवधि तक खड़ी बोली में गद्य रचना के लिए उसके ब्रजरंजित पूर्वीपन से प्रभावित तथा जन-प्रचलित, संस्कृत निष्ठ, अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त रूपों का प्रयोग हो रहा था । काव्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग पारम्परिक था, किन्तु यत्र-तत्र आंशिक रूप में खड़ी बोली का प्रयोग भी प्रचलित था । अतः साहित्य में भाषा-प्रयोग का कोई सर्वमान्य स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाया था । हिंदी की विविध शैलियों के संदर्भ में भारतेन्दु ने विचार स्पष्ट व्यक्त किये हैं कि -- "भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है कि कोई कहता है कि उरदू शब्द मिलने चाहिए और कोई कहता है कि संस्कृत शब्द

१- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी -- भाषा और संवेदना, पृ० ५ ।
२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- नई भाषा की कविता, [illegible] पत्रिका, [illegible], पृ० सं० [illegible] ।

होने चाहिए और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी निश्चित नहीं हो सकती ।"[1]

भारतेन्दु की भाषा में न तो संस्कृत शब्दों की भरमार हुई और न अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार ही मिलता है। लोक को कौन सी शब्दावली ग्राह्य होगी, इसका उन्होंने सदैव ध्यान रखा। उन्होंने हिन्दी की उस समय प्रचलित बारह शैलियों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनमें संस्कृत के शब्द अल्प हैं। वास्तव में, भारतेन्दु-युग में "संस्कृत के शब्दों के आने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फारसी-अरबी के शब्द आने पर भी साथ-साथ उर्दूपन न आने से हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता का प्रमाण"[2] प्राप्त होता है। उनकी भाषा प्रयोग संबंधी अवधारणा को निम्नलिखित शैलियों के अन्तर्गत स्पष्ट रूप प्रदान करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

<u>व्यावहारिक शैली</u> इस शैली के अन्तर्गत तद्भव शब्दों की प्रमुखता है। किन्तु प्रचलित संस्कृत, अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के सामान्य शब्दों को यथास्थान प्रयुक्त किया गया है। स्वाभाविकता तथा सजगता की दृष्टि से मुहावरों और कहावतों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इस शैली के रूप का निम्नलिखित उद्धरणों से परिचय मिल जाता है --

[क] "यदि यह न हो तो हमको डिनर-होम में निमंत्रित करो, बड़ी-बड़ी कमेटियों का मिम्बर करो, सीनेट का मिम्बर करो, जसटिस करो, अनेरेरी मजिस्ट्रेट करो, हम तुमको प्रणाम करते हैं।"[3]

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- नई भाषा की कविता [क्षात्रिय पत्रिका], खण्ड-२ पृ०सं० २२-२३ ।

२- पं० रामचन्द्र शुक्ल -- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ६ ।

३- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- अंग्रेज स्तोत्र वेश्या, पृ० ३६ ।

[ख] "मिठाई हलैया की तारीफ़ के लायक है। बालूशाही बिल्कुल बालू साही भीतर काठ के टुकड़े भरे हुए, लड्डू 'भूरके', बरफी अहा हाहा! गुड़ से भी बुरी, खैर लाचार होकर चने पर गुजर की, गुजर गई गुजरान क्या झोपड़ी क्या मैदान, बाकी हाल कल के खत में।"[1]

[ग] "मैं तुम्हें क्या तमाशा दिखाऊंगा हां धन्यवाद करूंगा क्योंकि निःसंदेह तुमने ऐसा तमाशा दिखाया कि सब कुछ भूल गया, अहा! स्त्री-पुरुष, पंडित-मूर्ख, अपना बिगाना और छोटे-बड़े सबका तमाशा देखा पर वाह! क्या ही तमाशा है -- तमाशा तो है पर देखने वाले थोड़े हैं, न हो तुम देखो मैं देखूं, उन्हीं तमाशाओं में से यह भी एक तमाशा है देखो।"[2]

उपर्युक्त उद्धृत उद्धरणों में भाषा बोधगम्य एवं प्रवाहयुक्त है। यत्र-तत्र रूपक, उपमा, अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों को भी प्रयुक्त किया गया है, किन्तु उपमान जनसामान्य के जीवन से ग्रहण किए गए हैं, उदाहरणार्थ --

[क] "[विदूषक] सच्च है, और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफेद फर्श पर गोबर का चोथ, सोने की सिकड़ी में लोहे की घंटी और दरियाई की अंगिया में मूंज की बखिया।

+ + + +

विचक्षण -- और जो तुम भी टेंटें किए जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग काट के एक ओर के पोंछ की अनुप्रास मोड़ देंगे और लिखने की सामग्री मुंह पोतकर पान के मसाले का टीका लगा देंगे।"[3]

[ख] "कृष्ण प्रसाद ने दामोदर से कहा --"तुमने हमारा भेद क्यों खोल दिया। ह हा!! इसको तुम भेद खोलना कहते हो? जब हमने जाना कि हम

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- सरयू पार की यात्रा -- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका -- खण्ड ६, सं० ८, पृ० १३।
२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पृ० ७।
३- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- कर्पूर मंजरी, पृ० ८।

उसको नहीं छिपा सकते तो हमने क्या बुरा किया कि उस भेद को ऐसे आदमी से कह दिया जो उसे छिपा सकता था ।।"[१]

भारतेन्दु-युगीन भाषा की व्यावहारिक शैली के सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि,"राजा शिवप्रसाद मुसल्मानी हिन्दी का स्वप्न ही देखते रहे कि भारतेन्दु ने स्वच्छ आर्य हिन्दी की शुभ्रछटा दिखाकर लोगों को चमत्कृत कर दिया । स्वार्थी लोग समय पर चक्र चलाते ही रहे, परंतु भारतेन्दु की स्वच्छ चंद्रिका में जो एक बेर अपने गौरव की कलक लोगों ने देख पाई वह उनके चित्त से न छूटी ।"[२]

डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है --"भारतेन्दु ने कोई नई भाषा नहीं चलाई । उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया । उनके पक्ष में तीन बातें महत्वपूर्ण थीं । उनकी भाषा संबंधी नीति वही थी जो अवधी और ब्रज के पुराने हिन्दू और मुसलमान कवियों की थी ..... यह भाषा नीति यह थी कि संस्कृत तत्सम के मुकाबले में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना, और बुनियादी शब्द भण्डार के लिए संस्कृत का सहारा लेना । दूसरी बात उनके पक्ष में यह थी कि उन्होंने ग्रामीण बोलियों का स्वभाव पहचाना और अपनी हिन्दी को गांव के पढ़े लिखे लोगों के लिए सुलभ बनाने की कोशिश की । तीसरी बात उनके पक्ष में नागरी लिपि थी ।"[३]

"तत्कालीन भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए ध्वनि, शब्द, लिंग, वचन-विन्यास आदि सभी में उसके लोकप्रचलित प्रचलित रूप को प्रयुक्त किया गया है । तभी तो,"अंग्रेजों की लेखनी से भी यह बात व्यक्त हुई कि जो भाषा दिहाती और किसानों की कहलाती थी वही आज सर्वगुण में श्रेष्ठ, मधुर, ललित तथा मनभावनी बन गई ।"[४]

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- चोज की बातें [हरिश्चंद चंद्रिका], खंड ५,सं० १,पृ०३५

२- पं० रामचन्द्र शुक्ल -- आनन्द कादम्बिनी, ७ मेघ ३से ६, पृ० ५४ ।

३- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ७८ ।

४- डा० उषा माथुर -- भारतेन्दु की खड़ी बोली, पृ० ६७ ।

संस्कृतनिष्ठ शैली

इस शैली में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है। संस्कृत के दीर्घ, संधियुक्त, क्लिष्ट सामासिक पदावली की प्रधानता होने पर भी आवश्यकतानुसार लोक-प्रचलित भाषा समाविष्ट की गई है। कथन की पुष्टि के लिए संस्कृत के श्लोकों तथा सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। जैसे :--

"दू० । महाराज आपने पहिले ही ऐसा प्रबंध किया है कि कोई चंद्रगुप्त से विराग न करे इस हेतु सारी प्रजा महाराज चंद्रगुप्त में अनुरक्त है पर राक्षस मंत्री के दृढ़ मित्र तीन ऐसे हैं जो चन्द्रगुप्त की वृद्धि नहीं सह सकते ।"[१]

भारतेन्दु की संस्कृतनिष्ठ भाषा के पूर्व ही राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग कर चुके थे तथा देश की अनेक भाषाओं में संस्कृत का प्रयोग होने से जनता इस प्रकार की भाषा शैली से परिचित हो चुकी थी । अतएव भारतेन्दु की यह शैली अस्वाभाविक नहीं लगी ।

मिश्रित शैली

इस शैली के अन्तर्गत संस्कृत, उर्दू, अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के शब्दों का युक्त रचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। नाटकों में पात्रानुकूल संवाद प्रयुक्त करने में भाषा के इस रूप का प्रयोग भारतेन्दु युग के अनेक नाटककारों ने किया है। 'चन्द्रावली' में खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा का सम्मिश्रण स्वाभाविक रूप से हुआ है। जैसे --

"विशेष किसको कहूं और न्यून किसको कहूं, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे तो श्रीकृष्णाही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं, तथापि सब गोपियों में श्री चन्द्रवाली के प्रेम की चर्चा आजकल तो ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा ! कैसे

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- मुद्राराक्षस, पृ० ५७ ।

ऐसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमती जी का भी भय है तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भांति मिल रही हैं। लोकलाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते।"

भारतेन्दु ने अपने `नाटक` शीर्षक निबन्ध में `भाषा नाटक` के अन्तर्गत पूर्वलिखित नाटकों का उल्लेख करते हुए लिखा है --"विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरिधरदास [वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र] का है। ब्रजरत्नदास ने `नहुष` नाटक में प्रयुक्त भाषा के संदर्भ में लिखा है -- "पद्य तथा गद्य दोनों ही भाषा में इन्होंने अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है, बहिष्कार नहीं और कहीं-कहीं तो विचित्र मेल भी है, एक हिन्दी तथा एक फ़ारसी शब्द का जैसे आर्जू-हीन। ऐसे ही जहान-महान तथा प्रधान-निसान हैं। ये शब्द कहीं शुद्ध रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे आला, खास, मुहाल आदि शुद्ध रूप में आए हैं और कुराक, नगीच, तदबीर, अफास आदि बिगड़े रूप में .... गद्यांश में खड़ी बोली का ही प्रयोग है जिस पर ब्रजभाषा का पुट है -- जैसे :-- इतने में प्रविस्यो, सुदरसन, चोबदार, प्रनाम करि ठाढ़ो भयो, तब सब देवन नैं भेंट दीनी, सुदरसन नैं पृथक्-पृथक् हाजिरी लीनी, इंद्र नैं भेंट लीनी।"[2]

बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु की भाषा-नीति एवं प्रयोग-स्वरूप ने उनके समकालीन नाटककारों को प्रभावित किया, जिनमें पं० बालकृष्ण भट्ट का विशिष्ट स्थान है। भारतेन्दु ने यह विचारणा व्यक्त की थी कि हमारे बाद हिन्दी में भट्ट जी की ही लेखनी चमकेगी। भट्ट जी का विचार था कि "हिन्दी के अक्षरों में

१- व्यथित हृदय --[सम्पादक] -- श्री चन्द्रावली नाटिका, पृ० ११।

२- ब्रजरत्नदास --[सम्पादक] -- नहुष नाटक, पृ० २७।

सब तरह के शब्द लिखे जा सकते हैं, जो के तैसे साफ़-साफ़ पढ़े भी जिए जा सकते हैं और ऐसे सरल कि गंवार दो महीने के परिश्रम में अच्छी तरह पढ़ ले सकता है।"[१]

भट्ट जी विभिन्न भाषाओं के लोकप्रिय शब्दों को ग्रहण कर हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति की अभिवृद्धि करने के पक्ष में थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्वागतकारिणी सभा के सभापति पद से भाषण देते हुए कहा था -- "उन्होंने इस सभा को कुछ भी उन्नत करने का प्रयत्न न किया। संस्कृत में कही खरी का खरा रंग डाले पर मुहावरेदार हिन्दी उन्हें चार पंक्ति लिखना पड़े तो उसमें वे दस गलती अक्षर तथा व्याकरण की करेंगे।..... जहां ग्रामीण जन दिन भर की गाढ़ी मेहनत के उपरांत एक स्थान में बैठ प्रमोद सूचक बातचीत करते हैं वहां अब भी नागरी के अपरिष्कृत शब्दों का अधिकतर व्यवहार ~~दिखलाई~~ दिखलाई पड़ेगा। सच है जिस पत्थर को म्यामार ने रद्दी समझकर फेंक दिया वही कोने का सिरा हुआ। वह भाषा जो ग्राम वाले बोलते हैं यद्यपि परिष्कृत न हो तो भी शुद्ध हिन्दी कहलाई जायगी। कवि मंडली बराबर इस पवित्र भाषा का आदर करती आई है। इस भाषा में सौ में नब्बे शब्द संस्कृत के अपभ्रंश हैं। हमारे कवियों को अपभ्रंश जितने सोहावने अपनी कविता के लिए मालूम हुए उतने शुद्ध संस्कृत नहीं। पुराने कवि और आधुनिक कविता के तुक जोड़ने वालों में यही बड़ा अन्तर है कि तुकबंदी वाले संस्कृत का प्रयोग अपनी रचनाओं में जितना अधिक करते हैं उतना हिन्दी का नहीं।"[२]

भट्ट जी हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषा मानने के पक्ष में नहीं थे। 'यह कौन कहता है कि उर्दू दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी

१- बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, जिल्द २२, संख्या ५, पृ० १६।
२- बालकृष्ण भट्ट --'मर्यादा', सितम्बर १९११ पृ० २२४-२३०।

हिन्दी का एक रूपान्तर है।"[1] वे मुहावरों-कहावतों को भाषा की प्राण-शक्ति मानते थे। 'भाषाओं का परिवर्तन' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है --

"इसके मानने में किसको इंकार होगा कि हर एक भाषा के ढंग निराले ही हैं।...... मुहावरे ही हरएक भाषा की जान हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी को ही लीजिए इन दो भाषाओं में कहीं-कहीं थोड़ा व्याकरण के नियमों का तो भेद है किन्तु बड़ा भारी अन्तर मुहावरों की निराली चाल का है।..... जब तक किसी भाषा में जान है अर्थात् रोजमर्रे के काम में लोग उसे बर्तते हैं और पुष्ट रीति पर उसकी स्थिति बनी रहती है तब तक नए-नए मुहाविरे नित्य उसमें बनते ही जायेंगे।"[2] इस प्रकार भट्ट जी हिन्दी को ऐसी व्यापक भाषा मानते हैं जो 'कुंजड़े से लेकर महाजन तक और हरवाहे से लेकर राजा तक'[3] सबकी बोलचाल की भाषा है।

भट्ट जी ने अपने भाषा सम्बन्धी विचारों को अपने नाटकों में यथावत् प्रयुक्त किया है। जैसे --

"जो देश सभ्यता की जितनी ही अंतिम सीमा को पहुंचता है वहां उतना ही अधिक नाटक का प्रचार पाया जाता है।..... कहने की अपेक्षा करके दिखा देने का अधिक अवसर होता है। नाटक लिखने का क्या प्रकार है कितने हमारे हिन्दी लेखक सो जानते भी नहीं। प्रत्येक नगर में दो एक बार हिन्दी के नाटक का अभिनय किया जाए तो देखो साल में कितने नए नाटक तैयार हों।"[4]

\+ \+ \+ \+

"सैरन्ध्री -- हा! एक वह समय था जबकि हम भी ऐसा ही पिता पांचाल-राज के घर में रहकर राजनन्दिनी कहलाती थीं। अहा! वह समय कैसा अनिर्वचनीय

१- बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८८५, पृ० ६।
२- बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, जून १८८५, पृ० ३-४।
३- बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८२, पृ० १०।
४- बालकृष्ण भट्ट -- हिन्दी प्रदीप, मई से जुलाई १९०४, पृ० ४०-४१।

दुख का दाता था। हाय! वे दिन अब क्या आ सकते हैं। यदि हम भिखारिन हो द्वार-द्वार भिक्षा मांग आर्य्य-पुत्र पाण्डुतनय पाण्डवों के साथ रहकर किसी भांति अपना जीवन बितातीं तो यह अच्छा था यह यातना तो न भोगतीं। हाय! क्या हम राजरानी नहीं हैं जो क्यों यह दुर्दशा भोग रही हैं। यह हमारे ही दुर्भाग्य का फल है जो आर्य-पुत्र पाण्डव भी भोगते हैं। हा माता! यह वही हतभागिनी पांचाली है जिसे तुमने बड़े आदर-स्नेह और यतन से पालन पोषण किया था। वही अब राज-महिषी भी होकर पराधीन हो सब प्रकार का दुःख भोगते महाकष्टपूर्वक दिन बिताती है। मा, यदि तुमने यह हमारा वृत्तान्त सुना होगा तो तुम्हें कैसी मर्मान्तिक पीड़ा हुई होगी। [रुदन] हाय! यह पापी देह का पतन हो जाता तो भी अच्छा होता।"[1]

+ + + +

"नाउन -- उपाय काहे कोई नहीं न ? ई का कहती हौ। तोहरे मैके के गउना मां फग्गू लाला की बड़ी बखरी के पिछवाड़े जो भगुआ डफाली न रहत है उ बड़ा गुनी है तोहरे हामी भरे की बात है जो तू कहा तो हम ओहका बोलाय के सब ठीक कर देह देई।

मालती -- ना ठकुराइन! यह तो मुझसे कभी न होगा। ई सब फेर में मैं नहीं पड़ना चाहती और इस सब से सिवाय हानि के लाभ कुछ भी नहीं है। ये सब बड़े ही ठग होते हैं। इनके फेर में पड़ना बड़ा ही धोखा खाना है कभी मेरे पड़ोसी मिट्ठूलाल ही के घर में न मालूम क्या हो गया होता।"[2]

प्रताप नारायण मिश्र

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भारत-दुर्दशा, हठी-हमीर, रणथम्भीर, गौ-संकट आदि नाटकों में सामान्य बोलचाल की खड़ी बोली प्रयुक्त की है।

१- श्री धनंजय भट्ट 'सरल' -- भट्ट नाटकावली, पृ० २५ [वृहन्नला नाटक]।
२- वही, पृ० १०१ [जैसा काम वैसा परिणाम]।

पूर्वी बोलियों के मुहावरों और कहावतों का प्रयोग इनकी विशिष्टता है। उन्होंने संस्कृत शब्दों को हिन्दी उच्चारण के अनुकूल लिखने की प्रवृत्ति को अपनाया है। `रिषि`, `रितु` शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त किए गए हैं। अतः "मिश्र जी ने हिन्दी गद्य का वही रूप ग्रहण किया है जो उस समय प्रचलित था। यह स्वाभाविक था कि बोलचाल की भाषा के ग्रहण करने पर शब्दों के स्वभाव और ध्वनियों में कुछ परिवर्तन हो जाये। भाषा को जन-साधारण के समीप रखने के लिए भी उच्चरित रूप को लिखित रूप देने का प्रयत्न किया।"[1]

भारतेन्दु-युग में गद्यकार के रूप में यदि भट्ट जी की टक्कर का कोई दूसरा व्यक्तित्व है तो वह है मिश्र जी का। भट्ट जी मिश्र जी से और मिश्र जी भट्ट जी से प्रेरणा लेते थे। भारतेन्दु-युग के ये सदस्य कितने उदार हृदय, श्रद्धालु और परगुण प्रशंसक थे। यह इसी से स्पष्ट है कि भट्ट जी अपना लेख लिखने से पूर्व प्रेरणा के लिए अपने दूसरे साथी का ऋण स्वीकार करते हैं -- "हमारे कानपुर के सहयोगी सम्पादक शिरोमणि ब्राह्मण `भौं` पर अपने कलम की कारीगरी का उम्दा नमूना दिखला चुके हैं, उन्हीं को अपना शिक्षा गुरू मानकर हम भी आज लिलार पर अपनी लेखनी की सुघराहट की बानगी का दो एक नमूना अपने पाठकों को दिया चाहते हैं।"[2]

मिश्र कृत `कलि कौतुक रूपक` में दो अनपढ़ और `त्रिया चरित्र वाली स्त्रियों के संवाद की भाषा का रूप इस प्रकार है --

"(विवय) स्यामा -- बीबी! की बात। ऐसे जमाने में कोई भोला भी हो है। सब जानैं हैं कि जवानी दीवानी कहावै है, जब हमी को चैन नहीं है तो बेयर

१- शान्तिप्रकाश वर्मा -- प्रतापनारायण मिश्र, पृ० १८५।
२- डा० राजेन्द्र शर्मा -- हिन्दी के गद्य निर्माता बालकृष्ण भट्ट, पृ० २१४।

बानी की कौन ? पर जब तक एक बात परदे में रहे अच्छा ही है न ?

चंपा (आक्षेप से) वाह रे परदे वाली !

श्यामा -- नहीं तो क्या तेरी तरह मन्दिर-मन्दिर का बन्नामिती लेती फिरूं हूं ?

चंपा -- जहीं तू तो पुजारिन बनी घरी में बैठी रहै है न ! छि छि !"[1]

+ + +

" डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहां की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात छिपके छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है।"[2]

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने मिश्र जी की भाषा का विश्लेषण करते हुए उचित ही लिखा है -- "प्रतापनारायण मिश्र की रचना की प्रधान विशेषता यह है कि वे मुहावरों आदि का व्यवहार अपनी भाषा में सफलता के साथ करते हैं।--" अहा ! भाषा हो तो ऐसी हो, क्या प्रवाह है ! क्या लोच है ? कैसी फड़कती और चलती हुई भाषा है।.... मुहावरे-दार भाषा लिखने में जैसा भाव विकास होता है, वैसा अन्य भाषा लिखने में नहीं।"[3]

बदरी नारायण चौधरी `प्रेमघन`

`प्रेमघन` जी ने भारतेन्दु की पत्रकारिता से प्रेरणा ग्रहण कर `आनन्द - कादम्बिनी` का सम्पादन किया, जिसमें `भारत सौभाग्य`, `वीरांगना रहस्य` नाटक प्रकाशित हुए। संस्कृत के सामासिक शब्दों के साथ अरबी-फारसी

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ३१७।

२- जयनाथ `नलिन` -- हिन्दी निबन्धकार, पृ० ६०।

३-`हरिऔध`-- हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ५०४।

का प्रयोग उनकी विशिष्टता है। "उनके साहित्य में कुछ देशी शब्दों का स्वभावतः ही प्रवेश हो गया है। जैसे घुघुनी, ठाटबाट, टटोली, लोटिया, मोढ़े, लहालोट, मोटी, डौढ़ है, घम्मड़, चुहुल, मुंसटा, किरकिराहट, घमकमाती, हकहकी, धकाधक, रगड़ा, डलिया, रगरी, चटपट, चपड़, बातीटू, फमेला, हौड़ आदि।"[1]

'वीरांगना रहस्य' नाटक की कलकतिया भाषा का रूप प्रस्तुत है --

"ला० लू० -- हुजूर। शराब जरा पीने में तीखी और तेज होती है, इसलिए जायका बदलने के लिए कुछ थोड़ा-थोड़ा जो बीच में खा लिया करते हैं, उसे गजक कहते हैं।

रा० ली० -- खैर

चां०वं० -- [सिर हिलाकर] -- हां। हम जानता है। २ मिनट।"[2]

श्रीनिवास दास

भारतेन्दु युग के सुपरिचित नाटककार श्रीनिवास दास ने अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है। भारतेन्दु की विचारणा करने हुए का अनुकरण करते हुए इन्होंने भी बोलने और लिखने की भाषा के स्वरूप में एकरूपता रखी है।

'रणधीर प्रेममोहिनी' में सुखवासीलाल मारवाड़ी बनिए से कहता है -- "रणधीर सिंह आदमी की क़दर क्या जाने। कोहिस्तान की बरफ़बी दूर से चक-सा नज़र आती है लेकिन कोई उसके क़रीब जाकर देखे तो उसका मशेबी फ़राज़ मालूम हो।..... इनके दिमाग़ में जवानी की बू समा रही है। इनका मिज़ाज

१- शान्तिप्रकाश वर्मा -- प्रतापनारायण मिश्र की हिन्दी साहित्य को देन, पृ० ३१७।

२- 'प्रेमघन' --सं०।-- आनन्द कादम्बिनी, माला ३, मेघ १, पृ० २२।

सिहायत रक्खी है। ये सबको बड़ा बेवफ़ा समझते हैं।"[1]

एक दूसरे स्थल पर प्रेममोहिनी कहती है --"ना प्राणप्यारे! अभी सूर्योदय का समय नहीं हुआ। आपके तेज से दीपक की जोत मंद पड़ गई है और पुष्पों की शीतलता से मोती ठंडे हो गए। पक्षी नहीं चहचहाते। रात्रि के कारण मीठे-मीठे स्वरों से कोयल बोलती है। कमल के पत्तों पर ओस की बूंद नहीं ढलकती, मेरे कपोलों पर आंसू बह आए हैं।"[2]

+ + + +

"पृथ्वीराज --"अहा ये प्यारी का मुख है कि शरद् का चन्द्रमा है, जो हमको विरही जनों को सताने के लिए उदय होने के समय से पहिले ही उदय हो गया। नहीं चन्द्रमा में तो कलंक है और उसमें इतना माधुर्य कहा है? यह तो शोभा का समुद्र उमड़ रहा है। आहा! इस शोभा-सागर में अधखुले ~~कमल~~ कमल दल से लाज भरे लोचन और मंद मुस्कान की शोभा कैसी प्यारी लगती है। मधुप सी मदोन्मत्त अलकें दोनों ओर कैसी झूम रही हैं....."[3]

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी भारतेन्दु युग के सक्रिय लेखक थे। अपने तीव्र व्यंग्य के लिए वे अत्यन्त प्रसिद्ध थे। भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र होने के नाते गोस्वामी जी भारतेन्दु को ही अपना साहित्यिक आदर्श मानते थे। भारतेन्दु की भांति गोस्वामी जी भी प्रगतिशील विचारों के थे और अतीत के प्रति आस्थालु थे। देश वासियों से वे कहते हैं --" भाइयों! उठो उठो बद्ध परिकर हो अपने देश को अधोमुख न होने दो। अब समय शेष नहीं रहा है। अब तक

1- श्रीनिवास दास -- रणधीर प्रेममोहिनी

2- वही

3- श्रीनिवास दास -- संयोगिता स्वयंवर।

मोह निद्रा के अधीन रहे आओगे ? तुम्हारा सब तो सर्वनाश हो चुका है तब भी व्याकुल नहीं होते ?"[1]

सुदामा चरित, सती चन्द्रावली, अमर सिंह राठौर नाटकों में उन्होंने लोक प्रचलित भाषा प्रयुक्त की है।

'सती चंद्रावली' में औरंगजेब कहता है --"क्या हर्ज है ; अगर एक काफिर की लड़की दीन इस्लाम कबूल कर ले। उसकी नजात होगी।" आगे वह मंत्री से कहता है --"ढंढोरा पिटवा दो कि कत्ले आम होगा। मारो काटो। चंद्रावली को फौरन मुसलमान बनाओ।"[2]

राधाकृष्ण दास

भारतेन्दु के अधूरे नाटक 'सती प्रताप' को राधाकृष्ण दास ने पूर्ण किया था। उन्होंने अपने नाटकों में पात्रानुसार विविध रूपिणी भाषा का व्यवहार किया है। मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों, संस्कृत श्लोकों और अवधी ब्रजभाषा के कवित्तों का प्रयोग संवादों के मध्य प्रचुरता से किया है। इस प्रकार राधाकृष्ण दास का भाषा-आदर्श भारतेन्दु के प्रवर्तित विचारों के अनुकूल ही है।

'महाराणा प्रताप सिंह' लोकप्रिय नाटक का संवाद प्रस्तुत है --

"प्रताप --(आवेश में) प्रताप सिंह.... जो अपनी जननी के दूध की सौगन्ध जो प्राण रहते कभी इन म्लेच्छों को निकालने की चेष्टा से निरस्त हो। जो अपनी प्रतिज्ञा-पालन कर सके तो वीर माता का दूध पीना सफल है, नहीं तो ऐसे जीवन पर धिक्कार।"

१- राधाचरण गोस्वामी -- हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८७६, पृ० ४।
२- राधाचरण गोस्वामी -- सती चंद्रावली, पृ० ६-११।

अकबर आदि मुसलमान पात्र ठेठ फ़ारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं --

"अकबर -- अहा हा, हिन्दू-मुसलमानों की रिश्तेदारी की बुनियाद कैसी उम्दा डाली गई है। अगर इसमें पूरी तौर पर कामयाबी हुई तो खानदान तैमूरिया कभी हिन्दुस्तान से हट नहीं सकता। क्या वजीर शमशीर इनका मजहबी खियाल तब्दील हो सकता है? ....."

ब्रज गोपिकाएं अपनी भाषा प्रयुक्त करती हैं। --

"अरे नेक पायं बढ़ाय जा। या ब्रज में उधमी को राज ठहर्यो। कहुं काहू में दीठ न परि जाय, सिधो दिए घर कूं चल।"[1]

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख नाटककारों की भाषा प्रयोग की दृष्टि से अनुशीलन से स्पष्ट है कि उस युग के नाटककार लोकजीवन से सीधा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। अपने प्रयत्न को सार्थक बनाने के लिए उन्होंने लोकभाषा के स्वरूप को आत्मसात किया है। भारतेन्दुयुगीन भाषा की विविधता को खड़ी बोली गद्य के प्रारम्भिक स्वरूप के कारण अपरिष्कृत खड़ी बोली का रूप प्राय: कहा गया है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु युग के नाटककारों की लोकचेतना के प्रति दिशाबद्ध कार्य से समन्वित करने से यह परिलक्षित होता है कि नाट्य-रचना में लोकभाषा तत्व के प्रति जागरूक होने के कारण उनकी भाषा साहित्यिक दृष्टि से भले ही परिष्कृत न रही हो किन्तु उसमें बोलचाल की भाषा के प्रयोग से एक सहज प्रवाह का समावेश आप से आप हो गया है।

नाटकों में लोकभाषा के प्रयोग का औचित्य

नाट्य-साहित्य लोकजीवन के सर्वाधिक समीप है। लोकधर्मी नाट्य परम्पराएं असीम काल से लोकमानस को मंगलमय बनाने में योग देती रही हैं।

1- राधाकृष्ण दास -- महाराणा प्रताप सिंह, पृ० १३, १५, १७।

साहित्य की समस्त विधाओं में भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने नाट्य-विधा को ही सर्वशक्तिमान समझा । उन्होंने अपने उद्देश्यों, विचारों को जन-जन तक प्रेषणीय करने के लिए नाट्य-रचना की तथा उसकी प्रस्तुति के लिए सार्थक प्रयास किए । अपने नाटकों में लोक कथानकों एवं लोक रूढ़ियों का उन्होंने प्रचुर प्रयोग किया, अत: लोकभाषा का प्रयोग भी उनके लिए सहज स्वाभाविक हो गया । इस सम्बन्ध में डा० बच्चन सिंह ने उचित ही लिखा है -- "रंगमंच की दृष्टि से विचार करने पर साफ़ दिखाई पड़ता है कि वे जनता के समीप पहुंचना चाहते हैं । भाषा की सरलता, जनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीत-ध्वनियाँ सभी कुछ इसके परिचायक हैं ।"१

शब्द-प्रयोग

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख नाटककारों की भाषा-नीति एवं भाषा प्रयोग का आधार नाटकों में प्रयुक्त शब्दों से है । शब्द-योजना की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटकों की भाषा अत्यधिक समृद्ध है ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वदेशी तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग

व्युत्पत्ति की दृष्टि से भारतेन्दु युग के नाटककारों ने स्वदेशी तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है । इस युग के प्राय: समस्त नाटककार अपने क्षेत्रीय लोक-जीवन से संबंधित रहे हैं और केन्द्रीय रूप से भारतेन्दु की विचारधारा से सम्न्वित रहे हैं । अत: शब्दावली की दृष्टि से प्रभावकारी प्रयोग स्वाभाविक हो गया था । नाटककारों ने प्रचुर रूप से उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जिनसे उनका कथन स्पष्ट हो जाए ।

स्वदेशी शब्द भारतेन्दुयुगीन नाटकों के स्वदेशी शब्दों के अन्तर्गत तत्सम्, अर्द्ध तत्सम्, तद्भव देशज और क्षेत्रीय बोलियों के शब्द समाहित किए गए हैं ।

१- डा० बच्चन सिंह,-- हिन्दी नाटक, पृ० ३१-३२ ।

तत्सम :-- ध्वनि संयोजना की दृष्टि से लघु, सरल, संधियुक्त, तथा सामासिक शब्द हैं। उदाहरणार्थ, जल, पवन, पकाभिषेक, मुखकज्जलावलेपके इत्यादि। व्यक्तिवाचक, जातिवाचक तथा भाववाचक सभी प्रकार के शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। यथा -- देव, मनुष्य, नदी, पुरुष, दुर्दशा आदि। निजवाचक सर्वनाम रूप-निज, स्व, स्वयं का प्रयोग है। गुणवाचक विशेषण -- अमूल्य,प्रचंड, प्राचीन का प्रयोग है। संख्यावाचक विशेषण भी हैं। क्रिया चल, बस, सह का अधिकाधिक प्रयोग है। क्रिया विशेषण नित्य, सर्वदा, केवल, पश्चात् का प्रयोग किया गया है।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों के संवाद उपर्युक्त दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखते हैं।--

१- "जनक (राजाओं को देख क्रोध करके) हमारी प्रतिज्ञा को सुनकर ऐसा कौन सा देश है जिसका राजा आज यहां नहीं आया। और कहां तक कहें। देवता और दैत्य भी मनुष्यता का रूप धर के आये। बड़े बड़े वीर और रणधीर इस रंगभूमि पर में विराजमान हैं।"[१]

२- "महाराजा सूर्य्यदेव -- (सिर उठाकर) यह कौन था ? इस मरते हुए शरीर पर इसने अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया ? अरे अभी तो यहां खड़ा गा रहा था अभी कहां चला गया ? निस्संदेह यह कोई देवता था। नहीं तो इस कठिन पहरे में कौन आ सकता था।"[२]

३- "युधिष्ठिर -- राजन्, यह आपका अभिलषित हमने स्वीकार किया और यह भी हो कि मेघ समय समय में वृष्टि करें पृथ्वी शस्यशालिनी हो, ब्राह्मण अपने वेद-मार्ग पर विचरण करें, आर्य लोग सुमति ग्रहण कर अपने देश की वृद्धि में एकमत हों और अधिक क्या कहें।"[३]

१- पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी -- जानकी मंगल नाटक, पृ० ७६।

२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ११६।

३- पं० बालकृष्ण भट्ट -- वृहन्नला नाटक, पृ० ४७।

४- "सखी, केवल दुःख भोगने को जन्मी हूं क्योंकि आज तक एक भी सुख नहीं मिला -- क्या विधाता की सब उलटी रीति है कि जिस वस्तु से मुझे सुख होता है उसी को हरण करता है - हाय मैंने जाना था कि मुझे मनमाना प्रीतम मिला।"[१]

५- "नाटक किस भाषा में लिखा जाए ? सब भाषा मिलाकर तो लिखने से रहे। दिल्ली से बनारस के परे तक करोड़ों आदमी हिन्दी बोलने वाले हैं और गुजरात, बंगाल, पंजाब और वगैरह देशों के लोग भी इस भाषा से अपना काम निकाल लेते हैं। इसलिए नाटक की निज भाषा हिन्दी रक्खी गई।"[२]

अर्द्धतत्सम् :-- ये शब्द वास्तव में संस्कृत के शब्दों में उच्चारण की दृष्टि से किए जाने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के कारण उद्भूत हुए हैं। इनका प्रयोग स्थान, पात्र की क्षेत्रीय बोली एवं उच्चारण-स्वाभाविकता की दृष्टि से किया गया है। थे हैं अजीर्ण अजीरन, धिक्कार धरिकार, निष्ठुर निठुर, नरक नर्क, अनवरत अनवर्त, वाणी बानी, क्षण छिन, टंकशाल टकसाल आदि --

१- "भगवान् -- मैं निठुर नहीं हूं। मैं तो अपुने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूं। परन्तु मोहि निश्चै है के हमारे प्रेमिन को हम सों हमारो विरह प्यारो है। ताहि सों मैं हूं बचाय जाऊं हूं। या निठुरता में जे प्रेमी हैं तिनके तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं तिनकै बात खुल जाय।"[३]

२- "चूरन नाटक वाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते, चूरन सभी महाजन खाते जिससे जमा हजम कर जाते, चूरन खाते लाला लोग जिनको अकिल अजीरन रोग

१- भारतेन्दु -- विद्यासुंदर नाटक, पृ० २३।
२- श्रीनिवास दास -- रणधीर प्रेममोहिनी, भूमिका।
३- डा० रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृष्ठ ६५।

चूरन खावे एडीटर जात जिनके पेट पचे नहिं बात ।"[1]

३- "पंडित - कौल ब्राह्मण
क्षात्रिय -- परिकार
पंडित -- क्षात्रिय शुद्ध शब्द धर्मकार है ।
क्षात्रिय -- और कुनबी और नर और पासी ।"[2]

तद्भव :-- भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य में उपर्युक्त दो प्रकार के शब्दों के उपरान्त तद्भव शब्दों का प्रतिशत अधिक है । ये हैं -- गोबर, घनदास, घर, आंख, काम, बुढ़ापे, मैं, हमारे, जिस, इन, बड़े, ऊंचा, दाहिना, कैसे, इतने, उतनी, थोड़ी, दूसरे, चौथे, चारों, पांचों, कई, कुछ, अब, धीरे-धीरे, यों, ज्यों, और, हां, नहीं ।

भारतेन्दु युग में जहां एक ओर साधारण ध्वनि-परिवर्तन के आधार पर तद्भव शब्दों को प्रयुक्त किया गया है, तो वहीं दूसरी ओर तुकबंदी, भावाभिव्यक्ति की सहजता तथा क्षेत्रीय प्रभाव की दृष्टि से अनेक स्थलों पर तद्भव शब्दों में पुन: ध्वनि-परिवर्तन हो गया है । यथा -- बच्चा बचा, तुम्हारी तुमारी, दूना दून, उलटी उलटी, और औ, सुनना सुन्ना, जीतते जीते आदि । डा० गोपीनाथ तिवारी ने इस ध्वनि-परिवर्तन के सन्दर्भ में उचित ही कहा है --"भारतेन्दु युगीन नाटकों में यह प्रवृत्ति प्राय: सामान्य दिखलाई देती है कि वे उच्चारण के अनुसार अक्षरों को ~~मिलाकर~~ मिला कर शब्द निर्माण करते हैं । नाटककारों ने [लोकभाषा के स्वरूप को ग्रहण किया और] लिखने तथा बोलने के अंतर को दूर कर उच्चारण के अनुसार शब्द को रखा है ।...... सक्ता, जिस्को, जिसे, उसे, उस्ने, इस्तरह, बिन्ती, उल्टा, सन्ना, जान्ता आदि ।"[3]

१- भारतेन्दु -- अंधेर नगरी, पृ० ६ ।
२- भारतेन्दु -- सबै जात गोपाल की, पृ० ३ ।
३- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुयुगीन नाटक साहित्य, पृ० ३२१ ।

१- "राजा -- मित्र इसका सोने का सा पंख देख मेरा मन इस पक्षी के पकड़ने को अत्यंत उत्कंठित हो रहा है। मेरी दाहिनी आंख और भुजा भी फरक रही है -- इससे मालूम होता है, मेरे कार्य की सिद्धि जल्द हुआ चाहती है।"[१]

२- "हिन्दी..... इस कुदशा के दूर करने के उपाय सिवाय इसके कि यह उर्दू बीबी रानी की पदवी से हटाई जावे और कुछ भी हो सका है।"[२]

३- "यह हरिश्चन्द्र नाटक क्या है, सत्य मोक्ष रूपी बैकुंठ का खुला हुआ फाटक है इस मोहिनी महोदधि में अनेक प्रकार की अनूठी अनूठी ठुमरी, ध्रुपद, दादरा, आल्हाई, खेमटा, गज़ल, रेख़ता, दोहा, कवित्त, सवैया, शेरें, ख्याल, लावनी, रूपी तरंगों का बिहार, विविध भांति की राग व रागिनी विपुल ताल माल युति विलसित है, जिसके केवल पठन-पाठन रूपी मज्जनमात्र ही से सर्व-साधारण भी हरि पदरति अधिकारी हो आनन्द प्राप्त कर सका है।"[३]

४- "सखियों -- मेरे संग की सहेलियों। मुझको हार-पिन्हाने में क्या शरम है? ये तो मेरा निज धर्म है पर मुझको चरण कमल महाराजाधिराज को छूने से बड़ा खौफ़ लगता है मैंने सुना है कि गौतम नारी चरण के छूने से आकाशमार्ग को छोड़कर चली गई बस यही सोच फिकर है।"[४]

५- "नटी -- और नहीं तो क्या? जिसमें हंसते खेलते लोग अपने देश का इतिहास, अपने धर्म का इतिहास, पुराने एवं नए विचार, उनके भेद, संसार की गति, उसके भविष्य और आप धर्म को शरल में जानें। पर आपने कहा कि धर्म नीति विषयक नाटक को कोई नहीं पूंछता तो इसका कारण क्या।"[५]

१- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर नाटक, पृ० ८।

२- रत्नचंद्र -- हिन्दी-उर्दू नाटक, पृ० १३।

३- ज्वाला प्रसाद -- ललनकांता अर्थात् हरिश्चंद नाटक, पृ० १।

४- मुंशी तोताराम -- सीता स्वयंवर नाटक, पृ० ३०।

५- पं० प्रतापनारायण मिश्र -- कलिकौतुक रूपक, पृ० च।

ब्रजभाषा की विभक्ति-प्रत्यय का प्रयोग भी समकालीन नाटककारों ने किया है। यथा -- आंखों, रातें, बातें मीचो, लावो, कीजिए।

देशज शब्द :-- भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोकसाहित्य की अभिवृद्धि में पर्याप्त योग दिया और इसी के साथ लोकभाषा विषयक प्रगति संलग्न रही है। लोक साहित्य को योग देने का अर्थ यह था कि जनबोली के उन शब्दों को प्रयुक्त करना जिन्हें देशज कहा जाता है। क्योंकि बिना इन शब्दों के प्रयोग के लोक-साहित्य का स्वरूप ही आत्माविहीन हो जाता है। देशज शब्दों में से अनेक शब्द पूर्वलिखित साहित्य से उपलब्ध हुए हैं, तो कुछ भारतेन्दु-युग में भाषा-प्रवाह के अनुकूल प्रवेश पा गए हैं। यथा-- अंधाधुंध, चौथ, ठोकर, डाढ़ी, खिड़कियाँ, खिचड़ी, सिकड़ी, सोंटा, चटपटाक, खुरखुर, टुटकं टूं, पौड़ी।

देशज शब्दों के अन्तर्गत मनोभावाभिव्यक्ति मूलक शब्दों का विशिष्ट स्थान माना गया है। ऐसे एक ही शब्द द्वारा व्यापक से व्यापक मनोगत भाव तीक्ष्ण अभिव्यंजना कर लेता है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने हाय, हा, धिक्, अहा, हा हा हा, ओह आदि शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है।

१- "घो० -- साहब, हमरा कानून ना पढ़ल बाय और न हमनी का फ़ारसी अरबी पढ़ले बाटी। गंवार आदमी हाकिम से बोलै बतिआवै का जानी। लेकिन हाँ, अदालत लड़त-लड़त तनी सरकार लोगन के सामने बोले में हिजाब खुल गइल बाय।"[१]

२- "सुतारा -- तुमको मेरा कहना बुरा लगा मालूम देता है -- है बहिन मैंने तो कुछ नहीं कहा परन्तु चित आजकल स्थिर नहीं है। तू मेरे सीधे कहने को भी ठट्ठे बाजी में ले जाती है।"[२]

१- रविदत्त शुक्ल -- देवाक्षर चरित्र, पृ० २३।

२- रत्नचंद साहब -- भ्रमजालक नाटक, पृ० १७।

३- "भागुरायण -- महाराज ! आज आपको यह क्या हो गया कि अपने धैर्यगुण में बट्टा लगाय विक्षिप्त से हो रहे हो कि जो कुछ तुमने कह रक्खा उसकी भी कुछ सुध-बुध नहीं है ।"[१]

४- "अंजना [मुद्रिका उंगली में न पाकर] हाय हाय ! हा सर्वनाश ! सर्वनाश । यह क्या आपत्ति है अब मैं कहीं की न रही ।"[२]

५- "चंद्रावली -- हा ! प्राननाथ ! हा ! प्यारे ! प्यारे अकेले छोड़कर कहां चले गये ? नाथ ऐसी ही बदी थी ! प्यारे यह वन इसी विरह का दुःख करने के हेतु बना है कि तुम्हारे साथ विहार करने को ? हा !"[३]

क्षेत्रीय शब्द :-- क्षेत्रीय शब्दों में बंगला, गुजराती, पंजाबी, पूरबी और पश्चिमी बोलियों के शब्दों का स्थान है । ये कहीं तो खड़ी बोली के स्वरूप के साथ फुटकर रूप से समाहित हो गए हैं तो कहीं सम्पूर्ण वाक्य ही इन शब्दों से परिपूर्ण है ।

बंगला -- गल्प, टका

ब्रज और पूर्वी -- लड़वा, निगुआ, तुरत, सन्तोला, तो, किन, तनिक, तले, परे, बैर, लुटाय, हो, भयो

उच्चारण -- प्रकृति के अनुकूल शब्दों की पद रचना इन बोलियों के आधार पर हुई है । यथा-- दून [दुगना], तुरत [तुरंत], परैगी [पड़ेगी], जोते [जोतते], लुटाय होय आदि ।

१- "तारिका -- सुबाहु, मारीच, सखी, दैत्यों, देखो तो मुझे डोकरे का मां शब्द सुनवत पड़ता है । और दो कोमल स्वर भी सुने जाते हैं । होना ही

१- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंबर नाटक, पृ० ५ ।

२- कन्हैयालाल -- अंजनासुन्दरी नाटक, पृष्ठ ७५ ।

३- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृष्ठ ४५ ।

वह डोकरा ही होगा । जाव, जाव तो देख आव, मैं भी कहीं आती हूं ।"[1]

२- "चम्पा -- हमारा रोम-रोम उस ब्राह्मण को शाप देता है जिसने जन्म-पत्री को जोड़कर विवाह कराया था । जन्म पत्री लेकर क्या करूं चाटूं - जोड़ावा तो बहुत अच्छा बना था ।"[2]

३- "द्वितीय किसान -- तू का यहू नाहीं समझ पड़त है ? गुरई कर्या कहत है और जौन मनई बजावत फिरत हैं वहिका राजपुत कहत है ।...(क्रोध करके) मुहिका समझ नहीं पड़ी तोहिका समझ पड़ी । राज दरबार में जात जात मोर पांव खियाय गया । भलमनसों में रहत-रहत जनम बीत गवा तो मोहिका इतनी हू सूझ न पड़ी ? का हम नाहीं जानित कि राजा दशरथ हम सबको बाप की बराबर पालन करत हैं (वा जो कहा है कि बिटवा हू राज करी यहि ते दुविधा जान पड़त है)"[3]

४- "चंबूभट्ट -- नाहीं भाई मी खरं सत्य सांगतो, मला खोटंल नाहीं । तुम्हाला माझे नरवरे वाटतात पण हे प्राय: इथले काशी तसेच आहेत, व अपल्या सांख्याच्या परम प्रियतम सफेत खड़खड़ीत उपणां पांघरणार अनाथा बालनींच शिवविलेलं बरं ।"[4]

५- "आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंग्रेज का भी दांत खट्टा हो गेया । नाहक को रुपया खराब किया । हिन्दोस्तान का आदमी लक लक हमारे हमारे यहां का आदमी बुंबक बुंबक लो अब भैया टके सेर ।"[5]

१- दामोदर शास्त्री सप्रे -- बालकाण्ड, पृ० १६ ।

२- निद्धीलाल मिश्र -- विवाहिता विलाप नाटक, पृ० ५२ ।

३- रामगोपाल विद्यान्त -- रामाभिषेक नाटक, पृ० ७ ।

४- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० २२७ ।

५- वही, पृ० २७० ।

विदेशी शब्द :-- विदेशी भाषाओं के शब्द कहीं तो मूलभाषा से ज्यों के त्यों ग्रहण किए गए हैं तो कहीं तत्कालीन भाषा की उच्चारणगत तथा व्याकरणिक प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तित रूप में प्रयुक्त किए गए हैं, जो युगीन नाटककारों की लोकभाषा के प्रति उन्मुखता का प्रमाण है।

उर्दू शब्द -- भारतेन्दु के पूर्व तक उर्दू का विशिष्ट स्थान रहा है। अतएव अरबी-फ़ारसी के शब्द जन-सामान्य की भाषा में घुल-मिल गए हैं और लोकभाषा के अंग बन गए हैं। यही कारण है कि उर्दू-शब्दों का भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है और हिन्दी-उर्दू में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

१- "उर्दू बीबी -- अजी मियां साहब जरा मेरी बात तो सुनिए (उनके दुपट्टे को पकड़कर) क्या ऐसी हालत में देखकर भी आपका दिल पाश-पाश नहीं होता? आप लोगों की बदौलत करीब तीन सौ वर्षों से मैं मैं इस देश में राजा की रानी रही, और सर्कार और रियाया को ऐसा बुश रखा कि कभी मुझे ख्वाब में भी इस बात का मुझे ख्याल नहीं था कि इन दिनों मुझ पर यह मुसीबत पड़ेगा कि बाजे बाजे लोग मुझे निकालने को मुस्तैद हो जाएंगे।"[१]

२- "सिपाही -- हुक्म है पाक दीन इस्लाम के रौबरू नापाक दीन हुनूद का कुछ भी लिहाज़ न किया जावे, बल्कि जहां तक हो सके उसे नेस्तनाबूद करने की कोशिश की जावे।"

३- "कुफ़्फ़ार सब दाखिले दोज़ख़ होंगे।"[३]

४- "कमाल खां -- इन बेईमान बुतपरस्तों के बुतों की हमने जूतों से खबर ली,

---

१- रत्नचंद -- हिन्दी उर्दू नाटक, पृ० ७।

२- जगतनारायण शर्मा -- अकबर गोरक्षान्याय नाटक, पृ० ७।

३- भारतेन्दु -- नीलदेवी, पृ० छठा दृश्य।

इनके सिरों को हमारी मन लोहू तलवारों को पिलाया, इनके मुंह में थूका, तिलक चाटा, जनेऊ तोड़ा, सिर पर जूतों का ताज पहनाया। इनके धर्म-शास्त्र की किताबों को आबदस्त का कागज़ और हम्माम का ईंधन समझा, हजारों को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया और सैकड़ों तरह की मनमानी सख्तियों के साथ इनसे पेश आए।"[1]

वास्तव में भाषा प्रयोग के क्षेत्र में पं० बालकृष्ण भट्ट के दृष्टिकोण को ही भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने अपनाया है। "यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपान्तर है। जब हम हिन्दुओं ने इसका अनादर कर इसे त्याग किया तब मुसलमानों ने इसकी दीनता पर दया करके इसे अपने मुल्क के लिबास और जेवरों से आभूषित कर इसका दूसरा नाम उर्दू रखा। तात्पर्य यह है कि इस नारी का कुल और गोत्र सदा एक ही रहा। समय-समय पर इसका रंग, रूप और भेष अलबत्ता पलटता गया।"[2] नाटककारों ने औरत, मैदान, खुदा, हिसाब, मेजबानी, जिम्मेदार, इज्जत, खुद, कामदार, नीम, बदमाश, हजार, बेशक, खूब, अलबत्ते, फ़रमाते, इनाम, मदान, कागज़, चीज़ आदि शब्दों का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है। यत्र-तत्र कुछ शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन भी हो गया है। उदा:

उमदा, तख्त तखते, मालिक मॉलिक, ताबज ताबे, वासित वास्ते, कतार कितारें, इब्लीस इबलीस, दुकान दूकान।

अंग्रेज़ी शब्द -- भारतेन्दु-युग में अंग्रेज़ी का प्रचलन पर्याप्त रूप से हो गया था। अनेक नाटककारों ने अंग्रेज़ी नाटकों का हिन्दी में रूपान्तर किया और अपनी भाषा को सामयिक बोध से संबद्ध करने के लिए अंग्रेज़ी शब्दों को मूल रूप

१- बैजनाथ -- वीरबाला नाटक, दृश्य-४।

२- हिन्दी प्रदीप -- फ़रवरी १८८५, पृ० ३।

एवं उच्चारण सुविधा की दृष्टि से परिवर्तित करके प्रयुक्त किया है। मूल रूप के प्रयोग चीफ़, लेडीज़ शब्द हैं। खड़ी बोली के उच्चारण के अनुसार ध्वनि से युक्त अंग्रेज़ी शब्द -- कालिज, लैंप, गिलास, ट्रैन, मैशानालिटी आदि का प्रयोग है। यह भाषा की सबल वृत्ति है। इनके अतिरिक्त शब्द हैं -- एक्ट, लैंड, लेडी, प्रूफ़ादि, ग्रेट, चीफ़, ओल्ड, फर्स्ट, इंजिन, फ्रेंड, डिनर होम, सेकेण्ड क्लास, एक्स्ट्रा, असिस्टेंट, एडिटर पोली, एडिटर जात, पुलिस वाले, टाइटलें, पेजी, मजिस्टर, कंपनियाँ, पालिटिक्स आदि।

१- "साहेब मजिस्ट्रेट मि० फिग्यराले -- टुमारा बात सुन के माफिक पत गया है। बाबा आडम के वक्ट का टुम आदमी। खिज़ाब से डाढ़ी मुंह रंग कर सोलह बरस का पट्ठा बनने मांगता है। वेलु कल हम टुमको बरा डाक्टर साहेब के मुलाहिज़ा के वास्टे भेजेगा।"[१]

२- "एडिटर (खड़े होकर) -- हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एजूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायं।..... आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं, हम ऐसे ऐसे आर्टिकल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।"[२]

३- "सूत्रधार -- अरे सम्पूर्ण संसार के प्रसन्न करने का बोझा जिसके सर पर हो और लोकमत के ठीक चलाने की लगाम जिसके हाथ में हो वह क्यों न चिंतित रहे। आज हमारे दर्शक वृंदों में बड़े बड़े महामहोपाध्याय राइट आनरेबुल -- आनरेबुल मशीनीति विचिक्षण महानेता राजे महराजे सभी आए हैं।"[३]

शब्द-प्रयोग की उपर्युक्त विशिष्टताओं के अध्ययन के उपरान्त यह कहना उपयुक्त होगा कि "भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने शब्दों का प्रयोग, प्रसंग,

---

१- रविदत्त शुक्ल -- देवाक्षर चरित्र, पृ० ७।

२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० १५१-१५२।

३- पं० प्रतापनारायण मिश्र -- कलिकौतुक रूपक, पृ० ग।

नाटकीय पात्र और परिस्थित्यानुसार किया। उनकी भाषा में तद्भव, तत्सम, अरबी-फ़ारसी, तुर्की एवं अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ। उनकी भाषा में तद्भव के एक ओर चलते-फिरते रूप मिले तो अत्यंत ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने किया। इन्होंने सामान्य रूप से प्रयुक्त एक साहित्यिक की भाषा में अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग किया तो लोकभाषा में आने-वाले अंग्रेज़ी के तद्भव शब्दों का भी यथ आमंत्रण किया है। इस प्रकार भारतेन्दु-युग की भाषा अपनी समग्रता में शब्द प्रयोग से लेकर उस महासागर की भाँति हो उठी है, जो अपने पूर्ववर्ती लेखकों के शब्द-प्रयोग की एकांगिक भाषा धाराओं को आत्मसात कर एकाकार कर देती है।"[१]

निष्कर्षतः भारतेन्दु-युग के नाट्य-साहित्य में प्रयुक्त प्रत्येक वर्ग के शब्द उनकी लोकोन्मुखता को निरूपित करते हैं। तद्भव एवं देशज शब्दों का प्रतिशत अधिक है, यह उनकी लोकोन्मुखता का प्रबल प्रमाण है।

वाक्य योजना

भारतेन्दुयुगीन नाटकों की भाषा की यह विशिष्टता है कि खड़ी बोली की प्रकृति के अनुकूल वाक्य निर्मित किए गए हैं। परन्तु स्वाभाविकता की दृष्टि से नाटककारों ने संस्कृत, अंग्रेज़ी, अरबी तथा फ़ारसी के वाक्यों को अपनाया है। संस्कृत के अधिकांश वाक्य सूक्ति के रूप में ग्रहण किए गए हैं।

वाक्य प्रमुखतः दो प्रकार के हैं --

१- पूर्ण वाक्य
२- अपूर्ण वाक्य

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने वाक्यों में अर्थ के अनुसार समुचित शब्दों के चयन, अन्वय तथा पदक्रम आदि में असंगति रखी है। स्थान-स्थान पर अनावश्यक

१- एम० ईश्वरी -- भारतेन्दु की शब्द शैली, पृ० २४।

पदों के प्रयुक्त होने से अविमृष्टविधेयांश दोष प्राप्त होता है। किन्तु भाषागत ये दोष अर्थबोध में बाधा नहीं पहुंचाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को तत्कालीन भाषा की सहज प्रवृत्ति कहना उपयुक्त होगा।

पूर्ण वाक्य

पूर्ण वाक्यों की दृष्टि से तीन प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं --

१- साधारण वाक्य

२- मिश्र वाक्य

३- संयुक्त वाक्य

१- साधारण वाक्य

मौलिक नाटकों में साधारण वाक्यों की बहुलता है। यथा -- निरलज्जता आती है,[१] जवनिका गिरती है,[२] हम लोगों ने पानी मांगा,[३] डाली बढ़ाओ मुझको,[४] मुझसे अकेले न उठेगा,[५] मुझे और कुछ अच्छा नहीं लगता,[६] आशा आती है,[७] भीतर से उछले पड़ते हैं।[८]

१- भारतेन्दु -- भारत दुर्दशा, पृ० १७

२- ,, -- अंधेर नगरी, पृ० ६

३- ,, -- हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खण्ड ६, सं० ८, पृ० २४।

४- ,, -- हरिश्चन्द्र चंद्रिका,मैगजीन, खण्ड-१, नं० ३, पृ० ८५।

५- ,, -- भारत दुर्दशा, पृ० २१।

६- ,, -- प्रेम जोगिनी, पृ० १६।

७- ,, -- भारत दुर्दशा, पृ० २७।

८- ,, -- हरिश्चन्द्र मैगजीन, खण्ड १, नं० ७-८, पृ० २२।

कहीं-कहीं मात्र संज्ञा अथवा क्रिया द्वारा साधारण वाक्यों की रचना हुई है। यथा -- हलवाई-चौपट्ट राजा।[1] चन्द्रावली -- बाह सखी.....। चल.....। ललिता प्यारी ...... देख.....।[2]

२- मिश्र वाक्य

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में एक मुख्य उपवाक्य के आश्रित उपवाक्य वाले मिश्रित वाक्य प्रचुर रूप से प्रयुक्त हुए हैं। यथा -- उनका मुंहहै कि हमारी कविता सुने,[3] मैं केवल यही वर मांगता हूं कि इन्द्र मेरे वश में होय,[4] इसमें झूठ क्या है तू वो सब तो बतलाओ,[5] जो बचते तो यही सोचते उनकी सदा रहाई है,[6] जो जहाज अभी लाखों रुपए का था, छन भर में एक पैसे का भी न रहा,[7] तब न बचावैगा कोई जब कालदण्ड सिर कूटैगा,[8] जितना पानी नदी में जाने देना चाहें उतनी नदी में दें,[9] जहां अभी डुबाव था वहां थोड़ी दूर रेत पड़ी है।[10]

१- भारतेन्दु -- अंधेर नगरी, पृ० ६।

२- ,, -- चंद्रावली नाटिका, पृ० २१।

३-

४- भारतेन्दु -- कर्पूर मंजरी, पृ० ५।

५- धनंजय भट्ट सरल -- भट्ट नाटकावली, पृ० १७।

६- भारतेन्दु -- नवोदित हरिश्चंद्र चंद्रिका, खण्ड ११ संख्या ३, पृ० २३।

७- ,, -- हरिश्चंद्र चंद्रिका चंद्रिका -- खण्ड ७, सं० ३, पृ० ४।

८- ,, -- नवोदित हरिश्चंद्र चंद्रिका, खण्ड ११, सं० ३, पृ० २१।

९- ,, -- कवि वचन सुधा, खण्ड ३, नं० १, पृ० ६।

१०- ,, -- ,, ,, ,, ,, ।

३-संयुक्त वाक्य

इन वाक्यों में प्रधान वाक्य एक से अधिक हैं। किन्तु सभी में परस्पर सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। यथा --

"पाण्डवों को आधा राज्य बांट दो हमने विचार कर निश्चय कर लिया है कि युधिष्ठिर के परमोत्कृष्ट गुण का अन्त नहीं है।[१] कहां है लाला, दो घण्टे हमें खड़े-खड़े हो गये न मेख आवें न दिया आवे न बैठने के लिए जगह न चीज रखने के लिए जगह, हमने ऐसी बारात छोड़ी या लिये हमें लाये हैं ऐसे नालायक से पाला पड़ा है बारात तो और जगह भी हम गए हैं पर ऐसा अंधेर कहीं नहीं देखा गया।[२] सरकार इन बातों को जानती है व नहीं जानकर कान में तेल डाले बैठी है,[३] यद्यपि हमारे पिता की राजधानी भी अत्यन्त अपूर्व है परंतु इस स्थान सा मुझे और स्थान नहीं दिखाई देता,[४] सखि मेरी तो यह विपत्ति भोगी हुई है, इससे मैं तुझे कुछ नहीं कहती,[५] सूत्रधार।.... तो इसी खेल ही में देखो,[६] सूत्रधार।..... किसने यह बखेड़ा बनाने कहा था और पचड़ा फैलाने कहा था।[७] पा।.... यहां ईश्वर का निर्णय करने आए हो कि नाटक खेलने आए हो?[८]

अपूर्ण वाक्य

वाक्य-रचना की यह प्रवृत्ति भारतेन्दुयुगीन नाटकों में व्याप्त है। अपूर्ण वाक्य की यह प्रवृत्ति [अध्याहार] किसी स्थान पर व्याकरणिक नियमों के

१- पं० बालकृष्ण भट्ट -- वृहन्नला, पृ० १६।
२- तोताराम -- विवाह विडम्बन, पृ० १११।
३- भारतेन्दु -- कविवचन सुधा, खण्ड-३, नं० २४, पृ० १८५।
४- ,, -- विद्यासुन्दर, पृ० ५।
५- ,, -- चंद्रावली नाटिका, पृ० २३।
६- ,, -- प्रेमजोगिनी, पृ० ५।
७- ,, -- ,,
८- ,, -- ,,

अनुसार है तो कहीं नहीं है। यह अध्याहार पूर्ण तथा अपूर्ण दो प्रकार का है --

पूर्ण अध्याहार में छोड़ा जाने वाला शब्द वाक्य में पहले कहीं प्रयुक्त नहीं किया गया रहता है। `तुम` का लोप -- चौ० । तो क्या हमें नहीं सुकाता पर कहां रहते हैं।[१]

`व्यक्ति` का लोप -- जो मिले हैं बिछुड़ेंगे और जो जीते हैं अवश्य मरेंगे।[२]

शब्दों का लोप अकारण हो गया है। उदाहरणार्थ :--

`सा` का लोप -- चौ० । कौन विद्या।[३]

सू० । ऐसा कौन नाटक है।[४]

`के` का लोप -- हम लोग आज दिन काश्मीर का इतिहास प्रत्यक्ष करते हैं।[५]

अपूर्ण अध्याहार में छोड़ा जाने वाला शब्द एक बार प्रयुक्त हो चुका होता है।

सू ।... पुराने नाटक खेलने में उनका जी भी न लगेगा, कोई नया खेलें,[६]

गो०दा० -- क्यों भाई बणियं आंटा किसणे सेर ?

बनियां -- टके सेर।

गो०दा० -- औ चावल।[७]

सौ० -- आजकल फूट कहां है।

ए० -- कुछ कुछ मतवालों में है।

शि० -- मत वालों में तो नहीं मतवालों में होगी।[८]

१- भारतेन्दु -- प्रेमजोगिनी

२- ,, -- विद्यासुंदर, पृ० ६।

३- ,, -- ,, ,, ।

४- ,, -- प्रेमजोगिनी, पृ० ७।

५- ,, -- काश्मीर कुसुम, पृ० ८।

६- ,, -- प्रेमजोगिनी, पृ० ७।

७- ,, -- अंधेर नगरी, पृ० ८।

८- अम्बिकादत्त व्यास -- भारत सौभाग्य, पृ० ७।

मुहावरे और कहावतें

मुहावरों और कहावतों का जितना अधिक प्रयोग ग्रामीण जनों की वार्ता में होता है, उतना शिक्षित-समुदाय के कृत्रिम वार्तालाप में नहीं । आभिजात्य वर्ग की वार्ता के मध्य मुहावरों का प्रयोग एक `फैशन` समझा जाता है, किंतु ग्रामीण-समुदाय में सहज-स्वाभाविक रूप से इनका प्रयोग होता है । अनेक अत्यधिक प्राणवान मुहावरे ग्रामीण-समुदाय से आभिजात्य साहित्य तक की यात्रा में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं और साहित्य में प्रयुक्त होने लगते हैं । इनके प्रयोग से साहित्य दो रूपों में लाभान्वित होता है । पहला यह है कि लोक-भाषा की मिठास उपलब्ध हो जाती है और दूसरा प्रत्यक्ष रूप से लोकाभिव्यक्ति हो जाती है । कहावतों और मुहावरों को `लोकानुभव पर आश्रित जीवन की सारभूत समीक्षा`[१] कहा गया है ।

कहावतों में अनेकानेक ऐसी अभिव्यक्तियाँ समाविष्ट रहती हैं, जिनमें जातीय तत्व की प्रमुखता है । `रिज़ले` ने `पीपुल्स आव इंडिया` में ऐसी कहावतें संगृहीत की हैं जिनमें विविध भारतीय जातियों के विषय में लोक-मानस की मनोवृत्ति तो समाविष्ट है ही, साथ ही उस जाति के गुण-अवगुण की भी समीक्षा हो गई है । किन्तु, "साहित्यकारों की दृष्टि में इन कहावतों का मूल्य जातीय तत्वों की दृष्टि से उतना नहीं है, जितना उनमें हुई अभिव्यक्ति, मानसिक-वैविध्य, उक्ति-वैशिष्ट्य और प्रभावबोधकता से है । कहावतों के क्षेत्र में आकर ही हम लोक अनुभूति के अर्थ गौरव को और उसकी व्यावहारिक पैनी दृष्टि को यथार्थतः समझ पाते हैं । ...... इस प्रकार कहावतों में हम लोक-मानस के कितने ही पक्षों का साक्षात्कार कर सकते हैं ।"[२]

१- टी० शिप्ले -- डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स -- [लंदन १९५५], पृ० ३२७ ।

२- डा० सत्येन्द्र -- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ४५६ ।

भारतेन्दुयुगीन नाटककार लोकचेतना को उद्वेलित-प्रेरित करना चाहते थे। अतएव उन्होंने भाषा को सहज बोधगम्य और प्रभावी बनाने के लिए लोकमानस में व्याप्त कहावतों एवं मुहावरों का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। इस प्रकार मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से नाटककार अपने नाटकों को लोकोन्मुख बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सके हैं।

"शैव्या [रोती हुई] -- हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया। हाय मेरी बोलती चिड़िया कहां उड़ गई ! हाय अब मैं किसका मुंह देख करके जिऊंगी। हाय मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया।"[1]

"गुबरिल -- वाह यह बहुत अच्छी रही उलटे हम पर पाँ बारह की तड़ जमाई। कहां तो थोड़े दिनों पहले आप वह हुलस था कि सुबह या शाम जरूर एक बार यहां आया करते थे और अब तो कटे-कटे दूर ही से नौ दो ग्यारह हो जाया करते हो। दोस्ताने का यह काम नहीं है कि हमहीं से शतरंज की चाल चले।"[2]

"तीसरा नागरिक -- भाई, हम तो "राजा करै सो न्याय" वाली गीत गाते हैं। सर्व साधारण के लाभ को लात मारते हैं। जिससे अपना अर्थ सोई किया चाहते हैं। "स्वार्थमन्शोहि....." शान्त वृत्ति धरे जोश को पास नहीं फटकने देते, हां में हां मिलाने को बड़ी पंडिताई और चतुराई मानते हैं। `कोउ नृप होहि हमैं का हानी, चेरी छोड़ न होउब रानी" दासस्य दासस्यव दास दास हो सेवा वृत्ति ही हमारा मूलमंत्र पुरखों से चला आया है। तब हम क्यों इन बातों में पड़ व्यर्थ को सिर पचावें और मन दहावें।"[3]

1- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- सत्य हरिश्चंद्र, पृ० ४२।
2- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा -- कुन्दकली नाटक, पृ० ३८।
3- धनंजय भट्ट `सरल` -- भट्ट नाटकावली, पृ० ५८।

'सती चरित्र' में चन्द्रोदय सिंह पात्र कहता है -- "ताली दोनों हाथ से बजती है, यदि तुम कुछ न बोलो तो किसी का सिर फिरे है जो कोई तुमसे झगड़ा करे । तनिक समय देखो और विचारो कि कैसी हवा चल रही है । जिसकी लाठी उसकी भैंस का अवसर नहीं है । इस समय भेड़िया और भेड़ एक घाट पानी पीते हैं । अब तो जो किसी की ओर तनिक उंगली भी उठावे कि वह अपराधी हो गया ।"[१]

'सुदामा कृष्ण' नाटक में सुदामा मन की व्यथा को प्रकट करते हैं -- "वाह रे भाग्य ! आखिर अपना खेल यहां भी दिखला दिया । अभी तक जो कानों से सुनते थे सब सच अब नेत्रों से देख लिया वही कहावत हुई कि ढोल के भीतर पोल । हाय ! नाहक ब्राह्मणी के कहे पर विश्वास आया और यहां आया अब सिवा हंसी के और क्या कमाया अब कौन सी सम्पत्ति की गठरी ब्राह्मणी के सम्मुख जाकर धरूंगा । कि कृष्णचंद्र ने दिया है । सत्य २ बुद्धिमान के लिए यही उचित है कि स्त्री के वचनों पर कदापि विश्वास न लावें पश्चाताप का सिवाय और क्या हाथ आया अब आज से यह हृदय में निश्चय हो गया कि विपत्ति में कोई किसी का साथी नहीं होता ।"[२]

'नन्द विदा नाटक' में धोबी कहता है -- "छोटे मुंह बड़ी बात । अभी राजा कंस सुन पावेगा तो सब ग्वाल बालों के साथ तुझे मरवा डालूंगा ।"[३]

इसी प्रकार भारतेन्दु युग के लगभग समस्त नाटकों के संवादों में मुहावरों का समावेश हुवा है, इनकी संक्षिप्त सूची प्रस्तुत है, जिसके आधार पर भाषा की लोकोन्मुखता का स्पष्टीकरण होता है :--

---

१- हनमंत सिंह रघुवीर सिंह -- सती चरित्र, पृ० ३७ ।

२- शिवनन्दन सहाय -- श्री सुदामा कृष्ण, पृ० ११ ।

३- पं० बलदेवप्रसाद मिश्र -- नन्द विदा, पृ० ६ ।

छिन्न भिन्न होना,[१]

हीन दीन होना,[२]

लाल पीले होना,[३]

धोके की टट्टी,[४]

आग में तेल डालना,[५]

कोरी बकवाद,[६]

काले अक्षर भैंस बराबर,[७]

आंख भर आना,[८]

अपने सिर पर रोना,[९]

नाक पांव करना[१०]

लुट जाना,[११]

फिर जाना,[१२]

खोद खाद करना,[१३]

ताक झांक करना,[१४]

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- बादशाह दर्पण, पृ० १ ।

२- वही ।

३- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- कर्पूर मंजरी, पृ० ७ ।

४- भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका, खण्ड ७, संख्या ४, पृ० २६ ।

५- ,, -- कवि वचन सुधा, खण्ड ३, नं० २४, पृ० ८८५ ।

६- ,, -- हरिश्चन्द्र मैगजीन, खण्ड १, नं० ३, पृ० ८६ ।

७- ,, -- कर्पूर मंजरी, पृ० ५ ।

८- ,, -- प्रेमजोगिनी, हरिश्चंद चंद्रिका, खंड १, सं० ६, पृ० ५ ।

९- ,, -- चंद्रावली नाटिका, हरिश्चंद चंद्रिका, खं० ४, सं० १-३, पृ० २२ ।

१०- ,, -- हरिश्चंद्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका, खं० ७, सं० ४, पृ० २७ ।

११- ,, -- नवोदित हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खं० ११, सं० १, पृ० १ ।

१२- ,, -- हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खं० ५, सं० ४, पृ० ८ ।

१३- ,, -- ,, ,, खं० ६, सं० ८, पृ० १७ ।

१४- ,, -- हरिश्चंद्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका, खं० ७, सं० ४, पृ० २७ ।

डंका बजना,[१]

बात पचना,[२]

दांत खट्टे करना,[३]

चार दिन का बसेरा,[४]

एक ज़िन्दगी हज़ार न्यामत है,[५]

परवल गाँठ करौंदा खाय,[६]

हरियाई की अंगिया में मूंज की बखिया,[७]

राजा सुखी प्रजा सुखी,[८]

पांचो घी में है,[९]

हाथ कंगन को आरसी क्या,[१०]

सब धान बाईस पसेरी,[११]

पापड़ बेलने पड़े,[१२]

काज के समय लाज को बिसार दे[१३]

१- भारतेन्दु -- नवोदित हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खं० ११, सं० ३, पृ० २२।

२- ,, -- अंधेर नगरी, पृ० ६।

३- ,, -- वही।

४- ,, -- नवोदित हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खं० ११, सं० ३, पृ० २२।

५- ,, -- भारत दुर्दशा, क्षत्रिय पत्रिका,खं० २, सं० ११, पृ० १६८।

६- ,, -- हरिश्चन्द्र चंद्रिका, खंड ४, सं० १, पृ० ३३।

७- ,, -- कर्पूर मंजरी, पृ० ८।

८- मंसाराम मारवाड़ी -- ध्रुव तपस्या, पृ० १७।

९- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० ३।

१०- वही, पृ० ७।

११- वही, पृ० ५।

१२- वही, पृ० ६।

१३- वही, पृ० ११।

भई गति सांप छछूंदर केरी,[1]
जाके पैर न फटी......,[2]
नाकों में दम,[3]
खाक में मिलाना,[4]
छाती पर सांप लोटना,[5]
पानी फेर गई,[6]
दालि गलाई नहिं गलत आए,[7]
सिंह अजा दोऊ सुख सों जल एकहिं घाट पियाजो,[8]
जो हुआ सो हो गया अंत में होगी भलाई,[9]
औसर चूकी डोमनि गावै ताल बेताल,[10]
किस खेत की मूली,[11]
अपने मुंह मियां मिट्ठू नहीं बनना चाहता,[12]
तीन तेरह हो गए,[14]

१- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० २३ ।
२- राधाकृष्ण दास -- दुःखिनी बाला, पृ० २७ ।
३- घनश्याम दास -- वृद्धावस्था विवाह नाटक, पृ० ७ ।
४- वही, पृ० ६ ।
५- वही, पृ० १३ ।
६- वही, पृ० १७ ।
७- वही, पृ० २१ ।
८- वही, पृ० २३ ।
९- वही, पृ० २७ ।
१०- वही, पृ० ३१ ।
११- वही, पृ० ३५ ।
१२- वही, पृ० ३६ ।
१३- वही, पृ० ३६ ।

अब पछताए होत कह चिड़िया चुग गई खेत,
बाल बांका नहीं करना,
लाठी के मारे पानी अलग नहीं,
ईश्वरेच्छा गरीयसी,
क्रोधः पापस्य कारणम्,
छोटे मुंह बड़ी बात,
गोबर के ढेर पर काठ की पुतली,
सीधी अंगुरी कतौं घिउ निकलत है,
अपने पांव में आप ही कुल्हाड़ी मारना,
जंगल में मंगल,
जले पर नोन,
करमगति टारी नहिं टरै,
आरम्भ शूर,

१- मूलचंद -- पुलिस नाटक, पृ० ११ ।
२- वही, पृ० १२ ।
३- वही, पृ० १४ ।
४- पं० बालकृष्ण भट्ट -- वृहन्नला नाटक, पृ० ३ ।
५- वही, पृ० ५ ।
६- वही, पृ० ७ ।
७- वही, पृ० ६ ।
८- वही, पृ० ११ ।
६- वही, पृ० ११ ।
१०- श्रीमती लाली -- गोपीचंद नाटक, पृ० १३ ।
११- वही, पृ० १४ ।
१२- वही, पृ० १६ ।
१३- बब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- चंद्रावली नाटिका, पृ० ११ ।

जल में दूध की भांति मिलना,[1]
ईंट पत्थर की नहीं हूं,[2]
पहेली बूझना,[3]
मुंह चिढ़ाना,[4]
अपने किए पर रोना,[5]
विष के बुते छुरे,[6]
अमृत पीकर छाछ पीना,[7]
गुदगुदाना वहां तक जहां तक रुलाई न आवै,[8]
कपोत-व्रत,[9]
बकरा जान से गया पर खाने वाले को स्वाद न मिला,[10]
जस दूलह तस बनी बराता,[11]
जंगल में मोर नाचा किसने देखा,[12]
जब तक सांसा तब तक आस,[13]

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- चंद्रावली नाटिका, पृ० ११ ।
२- वही, पृ० १३ ।
३- वही, पृ० १३ ।
४- वही, पृ० १५ ।
५- वही, पृ० १७ ।
६- वही, पृ० २१ ।
७- वही, पृ० २१ ।
८- वही, पृ० २३ ।
९- वही, पृ० २५ ।
१०- वही, पृ० २६ ।
११- वही, पृ० २९ ।
१२- वही, पृ० २९ ।
१३- वही, पृ० ३१ ।

मान न मान मैं तेरा मेहमान,[1]

आंखें चार होना,[2]

जैसी बहे बयार पीठ तैसी कर दीजे,[3]

छोटा मुंह बड़ी बात,[4]

नाक भौं सिकोड़ना,[5]

दाल में काला,[6] खुदरा फजीहत दीगरा नसीहत,[7]

बकरी की मां कब तक दुआ मांगेगी,[8]

दोनों हाथ घी में,[9]

दूध का दूध पानी का पानी,[10]

विनाश काले विपरीत बुद्धि,[11]

उड़ती चिड़िया पहचानना,[12]

जल में रहकर मगर से विरोध,[13]

एक तो तितलौकी दूजे नीम चढ़ी,[14]

१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र -- चंद्रावली नाटिका, पृ० ३१ ।

२- वही, पृ० ३७ ।

३- वही, पृ० ३७ ।

४- खिलावन लाल -- प्रेमसुन्दर नाटक, पृ० ११ ।

५- वही, पृ० ११ ।

६- वही, पृ० १२ ।

७- वही, पृ० १४ ।

८- वही, पृ० १६ ।

९- वही, पृ० १८ ।

१०- वही, पृ० १८।

११- `हरिऔध` -- प्रद्युम्न विजय नाटक, पृ० २१ ।

१२- पं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० -- दमयंती स्वयंवर, पृ० ७ ।

१३- वही, पृ० ७ ।

१४- वही, पृ० ८ ।

एक मनानी कुल गांव अंधा फिरे-फिरे आं.. ं,[1]

टट्टी की आड़ में शिकार,[2]

एक चने से भाड़ फोड़ेंगे,[3]

सन्तोषं परमं सुखम्,[4]

नौ दिन चले अढ़ाई कोस,[5]

काजी जी दुबले क्यों शहर के अंदेशे से,[6]

कोउ नृप होउ[7]....,

अजगर करे न चाकरी.....,[8]

चिड़िया हाथ आई,[9]

सौ सुनार की न एक लुहार की,[10]

बोलती चिड़िया का उड़ जाना,[11]

अंधे की लकड़ी छीनना,[12]

मुट्ठी गरम करना,[13]

१- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर नाटक, पृ० ६ ।

२- वही, पृ० १३ ।

३- विजयानन्द त्रिपाठी -- महामोह विद्रावण, पृ० १७ ।

४- वही, पृ० ११ ।

५- वही, पृ० १३ ।

६- वही, पृ० १४ ।

७- वही, पृ० १४ ।

८- वही, पृ० १५ ।

९- घनश्यामदास -- वृद्धावस्था विवाह नाटक, पृ० १३ ।

१०-गोपालराम गहमरी -- देशदशा नाटक, पृ० ७ ।

११- वही, पृ० ८ ।

१२- वही, पृ० ६ ।

१३- वही, पृ० ११ ।

छाती पर कोदो दरना,[1]

धोखे की टट्टी,[2]

सबहिं नचावत पेट गोसाईं,[3]

आपनो सोना भयो जब खोट तौ दोष कहा है परखैनिहार को,[4]

सत्तर चूहे खाय बिल्ली चली हज्ज को चली,[5]

हथेली पर सरसों मत जमाओ,[6]

नाम बड़े और दर्शन थोड़े,[7]

बगल में छोरा नगर में ढंढोरा,[8]

ऊँची दुकान फीका पकवान,[9]

पंच लीजै कीजै काज, हारे जीते नाहीं लाज,[10]

चौबे से छब्बे होने गए पास का दो गवाएं दुबे ही रहे,[11]

नाच न आवे आंगन टेढ़ा,[12]

दाल भात में मूसलचंद,[13]

१- गोपालराम गहमरी -- वैशदशा नाटक, पृ० ११ ।

२- वही, पृ० २१ ।

३- वही, पृ० २३ ।

४- वही, पृ० २४ ।

५- ईश्वरीप्रसाद शर्मा -- वैश्या नाटक, पृ० २ ।

६- तोताराम वकील -- विवाह विडम्बना नाटक, पृ० ७ ।

७- वही, पृ० ६ ।

८- वही, पृ० ५ ।

९- वही, पृ० ४ ।

१०- पं० बालकृष्ण भट्ट -- वेणु संहार नाटक, पृ० १३ ।

११- वही, पृ० १३ ।

१२- वही, पृ० १५ ।

१३- वही, पृ० १६ ।

मन के लड्डू बांधना,[१]

हाथ कंगन को आरसी क्या,[२]

पासा पड़े सो दाव राजा करे सो न्याव,[३]

दूध की मक्खी,[४]

दूध का दूध पानी का पानी,[५]

अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा,[६]

जैसा काम वैसा परिणाम,[७]

धोबी धोबिन से न जीते तो गदहे का कान ऐंठे,[८]

अपने मुंह मियां मिट्ठू[९]

जस दूलह तस बनी बराता,[१०]

ढोल के भीतर पोल,[११]

आग बबूला,[१२]

मियां बीबी राजी तो क्या करे गांव का काजी,[१३]

१- किशोरी लाल गोस्वामी -- मयंक मंजरी, पृ० ४ ।

२- वही, पृ० ५ ।

३- भारतेन्दु -- विषयस्य विषमौषधम्, पृ० ११ ।

४- वही, पृ० ११ ।

५- वही, पृ० १७ ।

६- भारतेन्दु -- अंधेर नगरी, पृ० ४ ।

७- पं० बालकृष्ण भट्ट -- जैसा काम वैसा परिणाम, पृ० ११ ।

८- अम्बिकादत्त व्यास -- भारत सौभाग्य नाटक, पृ० १३ ।

९- किशोरीलाल गोस्वामी -- चौपट चपेट, पृ० १४ ।

१०- वही, पृ० ७ ।

११- वही, पृ० ५ ।

१२- वही, पृ० ४ ।

१३- वही, पृ० ४ ।

मेंढुकी को जुकाम,[1]
मेंढुकी चली नाल जड़ाने,[2]
मीठी छुरी,[3]
धोबी का कुत्ता घर का न घाट का,[4]
चार दिनों की चांदनी,[5]
धोबी बस के क्या करे दिगम्बर के ग्राम,[6]
का वर्षा जब कृषि सुखाने,[7]
छोटे मुंह बड़ी बात,[8]
एक तो गिलोय, दूजे नीम चढ़ी,[9]
जल में रह मगर से बैर,[10]
सांप मरे न लाठी टूटे,[11]
प्यास लगे पर कुआं खोदना,[12]
बांह गहे की लाज,[13]

१- किशोरीलाल गोस्वामी -- चौपट चपेट, पृ० ३ ।
२- वही, पृ० ३ ।
३-
४- कन्हैयालाल -- अंजना सुंदरी नाटक, पृ० ५ ।
५- वही, पृ० ११ ।
६- वही, पृ० १३ ।
७- देवदत्त शर्मा -- बाल्य विवाह दूषक नाटक, पृ० १७ ।
८- रत्नचंद्र -- भ्रमजालक नाटक, पृ० १० ।
९-
१०- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर, पृ० ११ ।
११- वही, पृ० १३ ।
१२- माधव शुक्ल -- महाभारत पूर्वार्द्ध, पृ० ३ ।
१३- दामोदर शास्त्री सप्रे -- नाटकाकार रामायण, पृ० ४ ।

घर का भेदी लंका ढाहे,[१]
चार हाथ होना,[२]
होइहै सोई जो राम रचि राखा,[३]
सांप को दूध पिलाना,[४]
बाल बांका न होना,[५]
देसी कुतियां बिलायती बोल,[६]
सांच को आंच क्या,[७]
चोर को सब चोर ही दीखे हैं,[८]
ईद के चांद,[९]
धोबी का कुत्ता घर का न घाट का,[१०]
जेवड़ी जल जाती है परन्तु ऐंठन नहीं जाती,[११]
काठ का पुतला,[१२]
ताली दोनों हाथ से बजती है,[१३]

१- दामोदर शास्त्री सप्रे -- नाटककार रामायण, पृ० ७ ।
२- वही, पृ० ११ ।
३- वही, पृ० ११ ।
४- अम्बिकादत्त व्यास -- गोसंकट नाटक, पृ० ३ ।
५- वही, पृ० ७ ।
६- वही, पृ० ५ ।
७- वही, पृ० ।
८- प्रताप नारायण मिश्र -- कलिकौतुक रूपक, पृ० ३ ।
९- वही, पृ० ७ ।
१०- वही, पृ० ७ ।
११- कन्हैयालाल -- अंजना सुंदरी नाटक, पृ० ११ ।
१२- वही, पृ० १२ ।
१३- गोपाल राम गहमरी -- यौवन योगिनी, पृ० ५ ।

जिसकी लाठी उसकी भैंस,[1]

ऊँची दुकान फीका पकवान,[2]

पर्वत पर कुंआ खोदना,[3]

चींटी की मौत आने पर पर का निकलना,[4]

सोते सिंह को जगाना,[5]

रंग गिरगिट की तरह बदलना,[6]

आग बिना धुंआ नहीं होता,[7]

कहीं पवन से पर्वत उड़ते हैं,[8]

काले कंबल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता,[9]

बाल बांका न होने देना,[10]

घोड़े बेच कर सोना,[11]

मेरे सैयां भए कोतवाल तो अब डर काहे का,[12]

चिकनी चुपड़ी बातें,[13]

१- हनुमन्त सिंह -- सती चरित्र, पृ० ६ ।

२- वही, पृ० ७ ।

३- श्रीनिवास दास -- रणधीर प्रेममोहिनी, पृ० २७ ।

४- वही, पृ० ११ ।

५- वही, पृ० ९ ।

६- वही, पृ० ८ ।

७- वही, पृ० ४ ।

८- गोपाल राम गहमरी -- देशदशा नाटक, पृ० ५ ।

९- वही, पृ० ७ ।

१०-वही, पृ० ११ ।

११- रत्नचंद्र -- उर्दू-हिन्दी नाटक, पृ० ५ ।

१२- वही, पृ० ६ ।

१३- वही, पृ० ६ ।

दुल्लती झांटना,[१]
चोर चोर मौस्यायो भाई,[२]
डूब मरो चिल्लू भर पानी में,[३]
जबरा मारे रोवे न देवे,[४]
जाहि पिया माने वही सुहागन,[५]
पाथर ऊपर दूब जमाना,[६]
ब्याज के लाभ मूल गंवाना,[७]
फूले सदा न तोरई सावन सदा न होय,[८]

नाटकों में प्रयुक्त मुहावरों और कहावतों के उपर्युक्त समूह से यह सहज ही अभिव्यंजित होता है कि भाषा को लोकोन्मुख बनाए रखने की दृष्टि से नाटककारों ने किस सीमा तक लोकभाषा के इस स्वरूप को ग्रहण किया है। इनमें से अनेक मुहावरों की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई है। बूढ़े मुंह मुंहासे, अंधेर नगरी चौपट राजा, जैसा काम वैसा परिणाम नाटकों के शीर्षक ही सुपरिचित लोकोक्तियां हैं। इस भारतेन्दु युग की प्रमुख विशेषता है कि नाटककारों ने वातावरण करने वाले शब्द, ध्वनियां, विशेषणों, मुहावरों, लोकोक्तियां एवं सूक्तियों के विपुल प्रयोग किए हैं।

१- रत्नचंद्र -- उर्दू-हिन्दी नाटक, पृ० ७।
२- वही, पृ० ७।
३- 'प्रेमघन' -- भारत सौभाग्य, पृ० ११।
४- गोपाल राम गहमरी -- देशदशा नाटक, पृ० १३।
५- छगनलाल कासलीवाल -- सत्यवती नाटक, पृ० ५।
६- गिरिधरदास -- नहुष नाटक, पृ० ११।
७- वही, पृ० २७।
८- वही, पृ० २७।

नाटकों में प्रयुक्त लोक भाषा की प्रेषणीयता

भाषा के सन्दर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि प्रेषणीयता के स्तर पर उसने कितनी सफलता अर्जित की है। नाटकों में संवाद ही प्राण होता है। इन्हीं के माध्यम से पात्र कथा-शिल्प का विकास करते हैं, अतएव संवादों की भाषा पर ही पूर्ण प्रेषणीयता निर्भर हो जाती है।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पात्रों की भाषा उनके देश, प्रान्त और जाति के अनुसार परिवर्तित हो गई है, तभी उसकी लोकसंवेदना में अभिवृद्धि हो सकी है।

नाटकों की प्रस्तावना में दो पात्र [सामान्यतः सूत्रधार और नटी] रंगमंच पर वार्तालाप द्वारा निष्कर्ष व्यक्त करते हैं कि अमुक नाटक की प्रस्तुति की जाए। इस परम्परा का अधिकांश नाटककारों ने निर्वाह किया है। ऐसे वार्तालापों में भाषा का लोकस्वरूप सहज रूप से उपस्थित हुआ है। "अभिनय बोलचाल को अधिक पकड़ने की चेष्टा करते हैं।"[१] अतएव नाट्य-लेखक भाषा विधान में पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार करता है, तभी नाटक प्रभावी बन पाता है। जैसे :--

सूत्रधार --"धन्य है। आज सरद पूनो की रात कैसी सुहावनी ~~दिखाती~~ दिखती है? [ऊपर देखकर] वाह! धोये-धोये निर्मल आकाश की शोभा भी देखने ~~को मिलती~~ ही के योग्य है। तारागण के मध्य चंद्रमा कैसा अपनी पूर्ण कला से दीप्तिमान है? ऐ! यह बोध पड़ती है वा चंद्रमा सचमुच सुधा वृष्टि कर रहा है? यह ऋतु भी धन्य है! न कोई उष्णता के ~~तप्त~~ ताप से पीड़ित है और न कोई तुषार के दुःख से

१- यशपाल [सम्पादक] -- नया पथ, मई १९५६, पृ० ४०७।

भयभीत देख पड़ता है। जहां देखिए एक आनन्द है [इधर उधर देखकर] अः हा। आज तो बहुत से नाटकाभिलाषी रसिकजन इकट्ठे हुए हैं, जिनकी चेष्टा से पूर्णोत्साह और गुणज्ञता प्रकट है। बस, इस समय इन्हें कौन सा खेल दिखाऊं जो इनकी रुचि के विरुद्ध न हो? [सोचकर] अब तो नटी भी आती ही होगी, उसी भी पूछ लूं। वह अवश्य कोई ऐसा ही खेल बतावेगी जैसा मैं चाहता हूं। [नेपथ्य की ओर देखता है नटी आती है]

सूत्रधार -- [प्यार से] नटी! इतनी देर कहां बैठी रही, मैं तेरी ही बाट जोहता था।

नटी -- मैं तो चली ही आती हूं। कहो कुशल तो है, क्यों मुझे जोहते थे?

सूत्रधार -- हां कुशल तो है, पर देख आज की रात कैसी सुहावनी है? और कैसे महाशयों ने हमें कृतार्थ किया है। अब बताओ सखी आज कौन-सा नाटक इन्हें दिखावें?

नटी -- अच्छा सोच लूं तो बताऊं [नीचे आंख किए सोचती है]।

सूत्रधार -- [आप ही आप] नटी कोई अवश्य उत्तम नाटक चुनकर बताएगी।

नटी -- [हर्ष से] बस, इस समय के लिए श्रीकृष्ण के महारास से बढ़ कर दूसरा कोई नाटक न होगा, और यह अभी नया भी है।

सूत्रधार -- [बड़े आनंद से] वाह तेरी बुद्धि भी धन्य है। कैसा खेल चुन कर निकाला है। इस सरद पूर्णिमा को यही होना भी चाहिए, क्योंकि श्री रसिक शिरोमणि वृन्दावनबिहारी ने द्वापर-युग के अंत में इसी पूर्णिमा की रात में सोलह सहस्र गोपियों के साथ वृन्दावन को पवित्र किया था। बस उसी रात की लीला आज भी होनी चाहिए।"

"भारत डिमडिमा नाटक" का सूत्रधार कहता है --

"हे प्यारी! हम इनको इन्दरसभा की भांति ही कोई नाटक दिखलावेंगे। मेरा अभिप्राय इन्दरसभा के भांति यह नहीं कि जैसे इन्दरसभा देखकर हमारा

भारत नाश हुआ है वैसे ही इसके तुल्य एक और नाटक देखाकर नाश करूं । परन्तु यह इच्छा है कि गाना-बजाना तो इसी भांति का हो किंतु देश उपकारी और धर्मरक्षक हो ।"

'संगीत शाकुंतल' की प्रस्तावना में नाटककार ने नटी द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तल के विभिन्न अनुवादों पर अपना अभिमत व्यक्त किया है, जो लोकरुचि के परिष्कार की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी है ।

नटी --"जो तो होता रहेगा, पर यह बताइए कि यह लोग शकुन्तला नाटक पै क्या रीझेंगे, उसे तो इस समय के लोगों ने मिट्टी कर डाला है । किसी ने कहानी-सी लिखकर फूट-मूट नाटक का नाम धर दिया है । किसी ने अच्छर-अच्छर का उलथा करने की धुन में भाखा को ऐसा बिगाड़ा है कि देखने वाले समझें कि जैसी यह है वैसी ही संस्कीरत में भी होगी । किसी उर्दू के रसिया ने उसे अमानत की इन्दरसभा से भी अधिक चौपट कर दिया है । हाय ! कालिदास जी की कविता और उन्हीं के देस में उनकी यह दुरदसा ? प्राणनाथ ! जाने दीजिए और कोई नाटक खेलिए उसकी तो सुध आने से जी भर आता है । कौन खेलेगा और किससे देखा जायगा ।"

नाटककार गोपालराम गहमरी ने विचारणा व्यक्त की है --" कई स्थानों पर गंवारी शब्द आए हैं, उन्हें आप अशुद्ध जान फेंक मत दीजिए वरंच उन पात्रों के लिए वैसे ही शब्दों की आवश्यकता है ।"[1]

'गोपीचंद नाटक' में नाटककार ने भूमिका में स्पष्ट लिखा है --"नाटक की भाषा सरल और सुबोध रखी गई है ।"[2] जिसका अर्थ यही है कि नाटककार ने लोकजीवन में व्याप्त शब्दों का प्रचुर ~~प्रचुर~~ प्रयोग किया है ।

१- गोपाल राम गहमरी -- देशदशा नाटक, पृ० १ ।

२- श्रीमती लाली -- गोपीचंद नाटक, पृ० १ ।

भारतेन्दु ने 'कर्पूर मंजरी' में रसबोध के अनुकूल लोकसमाज में ग्राह्य प्राकृत शब्दों से युक्त भाषा का प्रयोग किया है। जैसे :--

"जामें रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय,
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय।"

भारतेन्दुयुगीन अधिकांश नाटककारों ने इसी के अनुरूप नाट्य-लेखन की दिशा निर्धारित की है।

'प्रह्लाद चरित्र' में प्रह्लाद का संवाद बाल-मानस को सहज अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

"प्रह्लाद -- गुरू ! पिता से यह देह उत्पन्न हुआ है, इसलिए पिता की आज्ञा मानना देह का धर्म है परन्तु आत्मा-परमात्मा का सनातन दास है, इसलिए ईश्वर की उपासना करना आत्मा का मुख्य धर्म है। मुख्य धर्म को छोड़कर साधारण धर्म का निर्वाह मुझसे नहीं हो सकता।"[1]

'अमरसिंह राठौर' में अमरसिंह जब मुसलमानों से वार्ता करता है तो उर्दू और हिन्दुओं से वार्ता करता है तो हिन्दी प्रयुक्त करता है।

"अमरसिंह -- मैं खियाल करता हूं कि मैं बड़ा खुशनसीब हूं। कैसान मुल्क में और इस फकीरी की हालत में आपने मुझ पर इतनी मिहर्बानी की है।"
मुंशी के संवाद में भी उर्दूपन का समावेश है।

"मुंशी -- गरीब परवर खुदावन्द ! यह अरायज हुजूर के मुलाहजे से नहीं गुजरी, इर्शाद हो तो अर्ज करूं।"[2]
श्रीमती लाली कृत गोपीचन्द्र में तमिल, गुजराती, बंगला, महाराष्ट्री, अंग्रेजी और उर्दू के गीत गवाए गए हैं।

1- लाला श्रीनिवास दास -- प्रह्लाद चरित्र, पृ० २३।
2- राधाचरण गोस्वामी -- अमरसिंह राठौर, पृ० १०-१३।

'रणधीर-प्रेममोहिनी' में कारिन्दा उर्दू में बोलता है तो सेठ मारवाड़ी में और पंडित जी ब्रज में, जबकि अन्य प्रमुख पात्र खड़ी बोली प्रयुक्त करते हैं।

'सुखवासीलाल -- सेठ जी! तुम्हारी किन लोगों की रकंटी है?
नथूराम -- [हाथ जोड़कर] अन्दाता जी! मैं तो माड़्यारी बनी कर्ं हूं।
सुखवासीलाल -- ब्याज क्या लेते हो?
नथूराम -- दस का बारा कर, रप्या महीना री संदी, लिया करा हा।
सुखवासी लाल -- लेकिन पीछे दो लेकर दस के बारह कर लेते हो, इससे गायले की क्या हद?
नथूराम [सिटपिटाकर] -- हैं अन्दाता यो तो म्हारी धंदोई ठैरो।

+ + +

रणधीर -- [आते ही शीशे को पलट कर] - चौबे जी किससे बात कर रहे थे?
चौबे जी -- [चौंककर] -- आपने भली सन्देह मिटाई दियो। मैं तो जानौं दूसरे चौबे समझ हो।
रणधीर -- कहो, भंग बूटी छन गयी?
चौबे जी -- हां धम्मूरत? मूंगी के नाम फांक फाँके बड़ी मेर भई!
रणधीर -- तो अब किस विचार में हो?
चौबे जी -- कछु नाम तुमको आइबे में अबेर भई तब मेरे मन में जे सन्देह भयो जो कहूं अपने घर को रस्ता तो नाय भूल गये।'[1]

'प्रेमसुंदर नाटक' में भी पात्रानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है और मारवाड़ी, उर्दू तथा भोजपुरी को स्थान मिला है। इसी प्रकार सती चरित्र, ग्राम पाठशाला में नाटककारों ने जातीय भाषा प्रयुक्त की है। डा० कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने भारतेंदु के भाषा-प्रयोग की समीक्षा करते हुए विचार व्यक्त किया है--'लोकसंग्रही भारतेन्दु ने लोकप्रामाण्यवादी भरत द्वारा प्रवर्तित नाटकीय भाषा

१- लाला श्रीनिवासदास -- रणधीर प्रेममोहिनी -- पृष्ठ ५,७,१७।

परम्परा को अपने नाटकों में ऐसा व्यापक रूप दिया, जिससे उसका स्थायी महत्व प्रकाश में आ गया। भारतेन्दु ने अपनी प्रेमजोगिनी में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार की बोलियों की शक्ति से पात्रों के व्यक्तित्व को जीवित कर दिया है।"[1]

'दुःखिनी बाला' में गंवारू भाषा का यह रूप लोकमानस के अनुकूल है।

"लल्लू -- अरे तो से कहा कि तू पढ़ना-लिखना छोड़ दे पर तै नहीं मानत। लाख बेर समझावा कि हमारे इहां पढ़ना नहीं सकता पर कुछ सुनिहि नाहीं।"[2]

इसी प्रकार पं० देवकी नन्दन त्रिपाठी ने 'जयनार सिंह' में ग्रामीण भाषा प्रयुक्त की है। 'महाभारत पूर्वार्द्ध' में यही रूप प्रस्तुत है --

"भीखू बढ़ई -- हाल-चाल का बताई भैया, आज बार-बार माझ्यारी से कैठा कहें के उन कारे का पूछवै नाहीं करत, ई कह ओकरे गम में एक हवेल पड़ी रहल। तौने से पैटवा जीयाजीत ह नाहीं तौ फजीता होइ जात।"[3]

बदरी नारायण 'प्रेमघन' के 'प्रयाग रामागमन' में पुरुष पात्र हिन्दी प्रयुक्त करते हैं तो स्त्री पात्रों द्वारा ब्रजभाषा का प्रयोग कराया गया है।

"निषाद -- हे रानी! ई सुनरि तोहारि ले कै मैं का करिहौं? मोरे यह काके पहिरि? और तुम्हें तो कुछ मोही को देय को चाही, सुना का करौ? महाराज मनवै न करिहैं।"[4]

इस प्रकार नाटककारों ने ब्रजभाषा का सहज रूप ही प्रयुक्त किया है। अतएव यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने ब्रजभाषा का वही रूप प्रयुक्त किया है जो बोलचाल तथा व्यवहार का है।

१- डा० कुंवरचन्द्रप्रकाश सिंह -- मध्यकालीन हिंदी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु, पृ० १३१।

२- राधाकृष्ण दास -- दुःखिनी बाला, पृ० ७।

३- माधव शुक्ल -- महाभारत पूर्वार्द्ध, पृ० २५।

४- बदरीनारायण 'प्रेमघन' -- प्रयाग रामागमन, पृ० १३।

हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक 'जानकी मंगल' की भाषा के संदर्भ में 'इंडियन मेल एंड मंथली रजिस्टर' में विचारणा व्यक्त की गई थी कि--"तत्कालीन गद्य की दृष्टि से इस नाटक का अधिक महत्व माना जा सकता है। सामान्यतः इस नाटक में खड़ी बोली का गद्य बनारस की जनता की बोली के निकट है। स्थानीय भाषा की प्रकृति शब्दों के प्रयोग और वाक्य विन्यास के द्वारा स्वतः प्रकट है।"[१]

"रामचन्द्र -- [हाथ जोड़ के] हे मुनिराय! विचार के बोलो। आपका क्रोध बहुत बड़ा है और हमारी बुध बहुत थोड़ी है। हमारे छूते ही तो यह पुराना धनुष टूट गया। हम घमंड किस बात का करेंगे। भला सुनिए तो जो हम ब्राह्मण जान के आपका निरादर करते हैं तो फिर संसार में ऐसा कौन सुभट होगा जिससे डर कर सिर झुकावेंगे। और सुनिए ऋषि राय देवता हो या दैत्य, राजा हो या प्रजा, चाहे हमरे बराबर हो या हमसे बलवान परंतु जो कोई लड़ाई में हमको ललकारेगा हम अवश्य उसका सामना करेंगे वह काल क्यों न हो?"[२]

'प्रेमसुंदर नाटक' नाटक में एक पात्र सहज भाषा द्वारा वातावरण निर्माण करने में सफल रहा है।

"वल्लभ० -- कोई जोगी जती, कोई गृहस्थ है, कोई गणिका के उपस्त में ही [illegible] है मस्त है। किसी के यहां पुत्रोत्सव की बधाई है, किसी के यहां परम प्यारे दुलारे मनुष्यों के मर जाने से रोना गाई है, कोई परोपकार को अपना उपकार मानते हैं, कोई दीन मनुष्यों को दुःख देना इसी में भलाई मानते हैं। कोई महात्मा जिसकी जगत भर में बड़ाई है, कोई दुरात्मा जिसकी जहां सुनी वहां बुराई है, कोई कहते हैं कि हम सब मनुष्यों को ईश्वर ने बनाया है, कोई कहते हैं कि सब ईश्वर कोई चीज़ नहीं। जगत में यों ही होता चला आया है ...."[३]

१- शरद नागर -- धर्मयुग, ४ अप्रैल, १६८८।

२- जानकीमंगल नाटक [सं० धीरेन्द्रनाथ सिंह], पृ० ६४।

३- खिलावन लाल -- प्रेमसुंदर नाटक, पृ० १०।

'माधवानल कामकंदला' में भी वातावरण निर्माण का यही रूप प्रस्तुत है --

माधव -- 'वहां का रंग-ढंग देख मैं दंग हो गया था, कि सुन्दर-सुन्दर सुन्दरियां जो अटारों पर लटा खोले फांक रही थीं, उनके रूप की छटा देख चित्त में आनन्द की घटा उमड़ती चली जाती थी, कि मन मोर फिंगार-फिंगार नाच रहा था और उनके दसन-दशन की चमक चपला सी चमक-चमक रह जाती थी ।'[१]

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों द्वारा प्रयुक्त पात्रानुकूल भाषा के दो रूप मिलते हैं । उनके पात्र प्रान्तीय या जातीय भाषा प्रयुक्त करते हैं । बंगाली पात्र बंगला, अंग्रेज़ पात्र अंग्रेज़ी, महाराष्ट्री पात्र महाराष्ट्रियन तथा मुसलमान पात्र उर्दू-फ़ारसी का प्रयोग करते हैं । दूसरा रूप यह है कि नाटककारों ने पात्र से उसकी मातृ या प्रान्तीय भाषा नहीं बुलवाई वरन् हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द मिला दिये हैं जिससे पात्र का कथन उनके प्रान्त या जाति के अनुरूप प्रस्तुत हो जाए ।" ये दोनों प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए ही भाषा में रखे गए हैं । किन्तु पहिले प्रयोग से दूसरा प्रयोग उत्तम है । यह तो ठीक ही है कि यदि पात्र की भाषा में थोड़ा-सा परिवर्तन करा दिया जाए तो उससे कथन अधिक स्वाभाविक हो जाता है जैसे बंगाली से बंगला न बुलवाकर कुछ बंगला उच्चारण या शब्द सहित हिन्दी बुलवाई जाए और वह कहे -- सभापति साहब जो बोला सो बहुत ठीक है । इसका पेशतर कि भारत दुर्दैव हम लोगों के शिर पर आ पड़े उसका परिहार का शोचना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु प्रश्न ऐई है कि जे हम लोग उसका दमन करने शाक्ता है कि हमारा बीज्जबल के बाहर का बात है[२] इसी प्रकार अंग्रेज़ से अंग्रेज़ी न बुलवाकर

१- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० ११ ।

२- भारतदुर्दशा नाटक, अंक ५ ।

अँग्रेज़ी उच्चारण एवं दो चार प्रचलित सरल अँग्रेज़ी शब्दों के साथ हिन्दी ही बुलवाई जाय और वह यह कहे --`हम टुम से बहुत खुश है, तुम्हारा हक अलबट्टा मारा जाता है तुम्हारी हालट हम पर जाहिर है । [नागरी विलाप] यदि वह नाराज हुआ तो कहेगा --`टुम नेटिव लोग वक्ट का कदर नहीं जानटा ।` [देवाक्षर चरित्र] ।"[१]

भारतेन्दुयुगीन अधिकांश नाटककारों ने दूसरी शैली को ही प्रमुखता प्रदान की है, जिससे भाषा लोकोन्मुख हो सकी है, जिसका लोकमानस पर भाव-उद्वेलन की दृष्टि से प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो गया था ।

`देवाक्षर चरित्र नाटक` का एक उदाहरण और प्रस्तुत है -- "साहेब मजिस्ट्रेट मि० फियराले -- टुमारा बाल सब सन के माफिक पक गया । बावा आदम के वक्ट का आदमी । खिजाब से डाढ़ी मूंछ रंग कर सोलह बरस का पट्ठा बनने मांगता है । वेल् कल हम टुमको बरा डाक्टर साहेब के मुलाकात के वास्टे भेजेगा ।"[२]

`देवाक्षर चरित्र` में प्रयुक्त ग्रामीण बोली का रूप प्रस्तुत है --

"चौ०-- साहब, हमार कानून ना पढ़ल बाय और न हमनी का फारसी-अरबी पढ़ले बाटी । गंवार आदमी हाकिम से बोले बतियावे का जानी । लेकिन हां, अदालत लड़त-लड़त तनी सरकार लोगन के सामने बोले में हिजाब खुल गइल बाय । से सुनी --"हित अनहित पशु पंछिउ जाना" और हमनी का तो मानुष क चोला है । हमार छोकड़वा परों रात के राजा शिवप्रसाद का बनावल इतिहास तिमिर नाशिक पढ़ल रहला कि सरकार अँग्रेज़ बहादुर के राज में प्रतिदिन तरक्की होत जाले और जे कुछ प्रजा के हित क बात सरकार के कान तक पहुंचे ले ओमे झट रद-बदल होय जाला । सेहें कुछ बात का भरती और बनावट

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ३३१ ।

२- पं० रविदत्त शुक्ल -- देवाक्षर चरित्र, पृ० ७ ।

हाँ कि सांचो ऐसन होला ? सुनीला कि पहिले कुल दफ्तर फारसी जबान में रहल जब ओमें कठिनता मालूम पड़ल तब उर्दू में कर दीहल गइल, वैसे अबहूं जो सरकार पक्षपात छोड़ के उर्दू के बराबी और नागरी के गुन एक साथ न्याय के तराजू में तौले और नागरी में गुन विशेष पावे तो नागरी में सरकारी दफ्तर कइला में का हानि होई ?"[१]

'भ्रमजालक नाटक' में नारी-पात्र के संवाद से सहज भाषा का रूप प्रस्तुत है --

"सुतारा -- तुझको मेरा कहना बुरा लगा । मालूम देता है, हे बहिन मैंने तो कुछ नहीं कहा परंतु तेरा चित्त आजकल स्थिर नहीं है । तू मेरे सीधे कहने को भी ठट्ठेबाजी में ले जाती है, इससे मैं लाचार हूं और मेरे ऊपर इस दुख पड़ने का कुछ सोच मत कर क्योंकि ऐसे ही दुःखों को सोचकर मैंने अपने जी में यह निश्चित कर लिया है कि मैं व्याह ही न करूंगी ।"[२]

'शिक्षा दान' की नारी-पात्र सहज-स्वाभाविक भाषा में मर्म की अभि-व्यंजना करती है --

"नाउन -- दीदी ! हम जो तुम्हारे सुख-दुख की साथिन न भई तो वह प्रेम कैसा ? तुम चाहे न कहो, पर हम सब तुम्हरे मन की बात जान गई । वह बंसी कैसी जिसमें मछरी न फंसी, जून में पड़े पर जो पुकारे से न आवे वह परोसी कैसा, बात को कहते ही जो उसकी मरम को न पहुंची वह कैसी नारी ?"[३]

इसी प्रकार 'विद्या विनोद नाटक' में नारी-पात्र के संवाद में भाषा के सहज स्वरूप के कारण प्रभाव आ गया है ।

१- पं० रविदत्त शुक्ल -- देवाक्षर चरित्र, पृ० १३ ।
२- मुंशी रत्नसिंह -- भ्रमजालक नाटक, पृ० ११ ।
३- पं० बालकृष्ण भट्ट -- शिक्षा दान, पृ० १४ ।

"विदूषक -- अजी बैंगनदास ! करेंगे क्या, आप और आपके महाराज दरे आप और बिछुड़ि आप कि लटके हैं जब चाहेंगे हाथ लगाकर तोड़ लेंगे हमको क्या औरों की तरह ठकुरसुहाती करना है कि हीं, हीं, हें, हीं करके बबुआ को रिझाए रहे, नहीं तो जहां टेढ़े हुए कि हमारे दो हाथ लम्बी पूंछ कपट लेंगे । हमको तो यही समझो कि सांची बात सदा ही कहें । सबके मन से उतरे रहें ।"

'दमयंती स्वयंवर' नाटक के संवाद में लोकभाषा का रूप स्पष्ट है --

"भागुरायण -- महाराज ! आज आपको यह क्या हो गया है कि अपने धैर्य गुण में बट्टा लगाय विक्षिप्त से हो रहे हो कि जो कुछ तुमने कह रखा उसकी भी कुछ सुध-बुध नहीं है । अपने दिल-बहलाव के लिए वन विहार की आज्ञा दी थी, सो क्या भूल गए -- यह क्रीडोद्यान का मार्ग है इधर चलिए ।

\+ \+ \+

राजा -- मित्र इसका सोने-सा पंख देखकर मेरा मन इस पक्षी के पकड़ने को अत्यंत उत्कंठित हो रहा है । मेरी दाहिनी आंख और भुजा भी फरक रही है -- इससे मालूम होता है मेरे कार्य की सिद्धि जल्द हुआ चाहती है ।"[१]

नाटकों के माध्यम से लोकमानस का परिष्कार भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था । इस दृष्टि से 'सत्यवती' और 'सज्जाद सम्बुल' की भूमिका में नाटककारों के व्यक्त विचार द्रष्टव्य हैं --

"कुसंगति क्या-क्या बिगाड़ कर सकती और अंत में उसका क्या फल होता है और यह झूठे खुशामदी लोग जो रात-दिन इनको घेरे रहते हैं, क्या-क्या धोखाबाजी करके कैसे-कैसे फंद में डालते हैं और इसका क्या परिणाम होता है ?"[२]

१- पं० बालकृष्ण भट्ट -- दमयंती स्वयंवर नाटक, पृ० १३-१७ ।

२- ज्ञानलाल कासलीवाल -- सत्यवती , पृ० १ ।

"क्योंकि जरा मुल्क और अपनी हालत पर अब गौर करो। यह वह वक्त नहीं है कि इश्क से दीवाने बने बन-बन की खाक छानते फिरे। देखो तुम्हारे मुल्क की क्या हालत थी और क्या हो गई? तुम्हारा मुल्क किसके हाथ में है? वह कैसे हैं और तुम कैसे हो? इंग्लैंड और फ्रांस की क्या हालत है और तुम्हारे हिन्दुस्तान की कौन गत है?"[1] इस प्रकार नाटककारों ने "नाटक में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार की बोलियों की उक्ति से पात्रों के व्यक्तित्व को सजीव कर दिया है तथा पूरे नाटक को हृदय यथार्थ के गहरे रंगों में रंग दिया है।"[2]

अतएव, यह कहना उपयुक्त ही होगा कि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का यही ध्यान रहा है कि भाषा को पात्र के अनुसार बनाकर उसमें स्वाभाविकता का[3] समावेश हो और वह लोकोन्मुख हो सके। इस सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा ने विचार व्यक्त किया है कि -"गांव के लोग ज्यादातर नागरी ही काम में लाते थे। इस लिपि के जरिए भारतेन्दु जनता के उस तमाम हिस्से को बटोर सके जो उर्दू न जानता था या जिसकी जातीय आवश्यकताएं उर्दू से पूरी न होती थीं।"[4] 'जनता के इस तमाम हिस्से' की भाषा के समर्थन तथा उसकी साहित्यिक-गरिमा के संदर्भ में शीर्षस्थ नाटककार पं० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है कि - "भाषा का पूरा जोर देखने के लिए उन लोगों पर ध्यान दीजिए जो एक ढंग के 'शून्य भीति' हैं अर्थात् जिन पर किसी तरह की शिक्षा मात्र ने अपना रंग नहीं जमाया है और जो घर में तथा घर के बाहर छोटे बड़े सबसे एक तार की अपनी सहज भाषा बोलते हैं। सच पूछिए तो ऐसी भाषा से बढ़कर संसार में कोई दूसरी मीठी भाषा नहीं हो सकती। इस कारण अगर ठेठ हिन्दी शब्दों की आपको खोज है तो गतकाल के या वर्तमान समय के नपी-जुखी प्रायः एक ही ढर्रे

१- केशवराम भट्ट -- सज्जाद सम्बुल -- पृष्ठ १।
२- डा० कुं० चंद्रप्रकाश सिंह -- मध्यकालीन हिंदी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु, पृ० १३१।
३- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ३३२।
४- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ७८-७९।

पर चलने वाले कवियों की वाणी से लेकर उड़स्त्रों धारा से बसती हुई सजीव ग्रामीण भाषा को देखिए। यदि आप यह कहें कि शिक्षा के अभाव से ऐसे लोग असभ्य या अश्लील शब्द अपनी बोलचाल में बहुत भरते हैं तो साथ ही इसके यह भी सोचना चाहिए कितने इन्होंरों लाखों शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनके पुष्ट भाव या अर्थ-गौरव को देखकर चकित रह जाना पड़ता है।..... सच पूछिए तो इस थोड़े से समय में हिन्दी की कुछ कम विजय नहीं हुई। वे ही सब शब्द जो किसी समय गंवारों की भाषा समझे जाते थे सो अब कालचक्र के फेर-फार से अधिकार-शाली पढ़े-लिखे लोगों के बर्ताव में फिर आने लगे परन्तु ठेठ से ठेठ हिन्दी शब्दों की खोज लोगों को है और वह ठेठ हिन्दी हमारे ग्रामीण जनों के ही कण्ठ का आभरण है। ...... प्रयोजन यह है कि ठेठ हिन्दी के शब्द हम लोगों के काम में जो लाए जाते हैं इसके बदले कि गंवारपने की बू उनसे आवे एक विचित्र लहलहापन और पुष्टता उनमें भरी हुई पाई जाती है और आप निश्चय जानिए बहुत जल्द ऐसे शब्दों की पूरी विजय होगी।"[१] भट्ट जी का यह कथन भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की भाषा-प्रयोग संबंधी अवधारणा का सारांश है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुग के नाटककारों ने खड़ी बोली के प्रचलित रूप के अतिरिक्त अवधी, ब्रज और भोजपुरी भाषा के स्वरूप को ग्रहण किया है। क्षेत्र-विशेष में अभिनय के लिए नाट्यलेखन की सीमित दृष्टि उनकी नहीं रही। सम्पूर्ण लोकमानस के परिष्कार करने की दृष्टि से उन्होंने प्रभावी कथानकों का चयन किया है और भाषा को भी व्यापक लोकमानस से संबंधित किया।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की भाषा-प्रयोग की दृष्टि लोकसम्पृक्त एवं व्यापक रही है। उन्होंने कथन को प्रेषणीय बनाने के लिए लोकसंवेदना से युक्त शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है, जिससे भाषा में सरसता एवं प्रवाहमयता का सहज ही समावेश हो गया है।

-----०-----

१- पं० बालकृष्ण भट्ट --"हिन्दी प्रदीप", जुलाई १८८५, पृ० ३।

अध्याय - ५

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोकरंगमंच

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोक रंगमंच

भारतेन्दुयुगीन रंगमंच की भूमिका

भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी रंगमंच किस रूप में विकसित हुआ था तथा नाटककारों ने लोक-परम्परा से अनुप्राणित किन-किन शैलियों को आत्मसात किया ? भारतेन्दुयुगीन नाटकों के रंगमंचीय विवेचन में इस तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। भारतीय रंगमंच परम्परा से ही साहित्यिक एवं लोकतात्विक उपकरणों को युगपद रूप में लेकर चला है। देववाणी संस्कृत का साहित्यिक रंगमंच लोक-परम्परा को उपेक्षित कर एक विशिष्ट वर्ग के अनुरंजन के माध्यम के रूप में विकसित हुआ था, किन्तु मध्यकाल में लोक परम्परा से समन्वित रंगमंच जनपदों में विस्तीर्ण होकर वहां की प्रकृति के अनुकूल विकासोन्मुख रहा। अतएव भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोक रंगमंच के उपकरणों के विश्लेषण के पूर्व संस्कृत रंगमंच से लेकर भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित रंगमंच का विकासक्रम निरूपित करना अपेक्षित है।

संस्कृत के आचार्यों ने नाटक उस साहित्य विधा को माना है, जिसमें कोमल तथा ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ न हों, जो विद्वानों को सुख देने के योग्य हों, जिसे बुद्धिमान लोग खेल सकें, जिसमें अनेक रसों के प्रदर्शन का पर्याप्त अवकाश हो।[1] अतएव, कोई भी रचना कथा और संवादों के समावेश के

1- हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च ॥१०॥

सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ॥ ११ ॥

--आचार्य भरतमुनि -- भरत, नाट्यशास्त्र, पृ० ६ ।

उपरान्त भी नाटक कहलाने योग्य नहीं होगी, जबकि वह अभिनेय हो। अभिनय के लिए नट या अभिनेता द्वारा जिस माध्यम को संयोजित किया जाता है,उसके स्थूल और सूक्ष्म उपकरणों का नाम सामान्यतः रंगमंच है। रंगमंच पर सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत अभिनय रस-निष्पत्ति के अभाव में पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है। इस व्याख्या के अनुसार रंगमंच-कला का प्रमुख सृष्टा अभिनेता को मानना चाहिए किन्तु नाट्य-रचना जिस साहित्य-विधा के अन्तर्गत सृजन का रूप निर्मित करती है, उसके मूल में नाटककार की सत्ता निश्चित रूप से स्वीकारी जाती है। एतदर्थ, नाटककार एवं उसके नाटक की अभिनेयता दोनों का सामंजस्य ही रंगमंच के स्वरूप निर्धारण का आधार है।

विक्रम संवत् के प्रारम्भ के आसपास भरत मुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र प्रमाणित करता है कि उस समय भारतीय नाट्य कला विकसित और महत्वपूर्ण हो गई थी, तभी उसके स्वरूप विवेचन के लिए शास्त्रीय ~~रंगमंच~~ ग्रन्थ की अनिवार्यता हो गयी थी। नाट्यशास्त्र में रंगमंच, स्थापत्य, रंगकला, रंग-तकनीक, रंग प्रयोग तथा विविध नाटकों का विशद् विवेचन यह सूचित करता है कि प्राचीन नाट्यकला अनेक आयामों में विस्तीर्ण हो रही थी। 'नाट्यशास्त्र' में 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्'[1] कहकर नाट्य को लोकवृत्त के आचरण का अनुकरण करने वाला बताया गया है। लोकाचरण अथवा लोकवृत्तांत के अंतर्गत न केवल जाति-विशेष के लौकिक-संस्कार एवं रीति-रिवाज़, वरन् समाज में प्रचलित विश्वास एवं परम्पराएं, धर्माचरण एवं कर्मकाण्ड, मनोभाव एवं अवधारणाएं, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, इतिहास-पुराण सभी कुछ आ जाता है। अतः वेदों के पूर्व तथा वैदिक काल में लोकनाट्य का कोई रूप निश्चित रूप से रहा

१- लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥

--आचार्य भरत मुनि -- भरत नाट्यशास्त्र, १।१०६,पृ० ६।

होगा, जिसे प्राचीन आख्यानों से प्रमाणित किया जा सकता है।[1] आदिकवि वाल्मीकि ने अयोध्या की गणिकाओं तथा नाटक मण्डलियों से युक्त कहा है तथा राम के अभिषेक के समय नटों, नर्तकों और गायकों द्वारा जन-अनुरंजन का उल्लेख किया है। वज्रनाभ-वध और प्रद्युम्न-विवाह प्रकरण[2] में नाट्य-प्रयोग सम्बन्धी यह विवरण उपलब्ध है है। "श्रीकृष्ण ने अपनी माया से भद्र नामक नट उत्पन्न किया। उसके साथ भीमवंश के यादवों को नट बनाकर वज्रनाभ को वज्रपुर भेजा। वज्रपुर में प्रद्युम्न नायक बने, साम्ब विदूषक बने, अन्य यादव नटी बन कर 'रामायण' नाटक खेलने लगे। नटों ने इस अवसर पर ऐसा सरस अभिनय किया कि दानव समाज विमुग्ध हो गया। नाट्य-प्रस्तुति की सराहना सुनकर वज्रनाभ ने उन्हें अपने यहां नाट्य-प्रस्तुति के लिए आमंत्रित किया, जहां उन्होंने 'कौबेर रम्भाभिसार' नाटक की अवतारणा की।

संस्कृत-व्याकरण के आचार्य महर्षि पाणिनी (ईसा पूर्व ६०० वर्ष) ने शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों का नामोल्लेख किया है किन्तु उन सूत्रों का विवरण उपलब्ध नहीं है। तब भी इस तथ्य से नाट्याभिनय का प्रमाण तो मिलता ही है। वात्स्यायन के कामसूत्र में एक प्रसंग है --"पखवाड़े या महीने के निश्चित या प्रसिद्ध वर्ष के दिन से सरस्वती के मंदिर में राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा नाटक या उत्सव हुआ करें।[3] इसी ग्रन्थ में बाहर से आने वाले नटों के संदर्भ में व्यवस्था का चित्रण किया गया है। इसके अनुसार पहले नट नागरों के समक्ष अपना नाटक प्रदर्शित करें और जो कुछ ठहराव हुआ हो, उसे दूसरे दिन प्राप्त कर लें। यदि पुन: लोग देखना चाहें तो व्यवस्था के साथ उनका खेल देखें अन्यथा उन्हें विदा कर दें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दूसरे देशों से आने वाली नट मण्डली के लिए प्रत्येक खेल दिखाने का पांच पण कर

१- सीताराम चतुर्वेदी -- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ० ७।

२- महाभारत -- हरिवंश पर्व, ९१ से ९७ अध्याय तक।

३- कामसूत्र -- नागर वृत्त प्रकरण, छठा निबन्धन।

राजा को देने का उल्लेख किया गया है। उसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि -- "अभिनय कला को सिखाने की व्यवस्था राजा को करनी चाहिए तथा उसका व्यय राजमण्डल की आय से व्यवस्थित करना चाहिए।" अतएव, ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व नाट्यविधा को भारतवर्ष में राज्याश्रय प्राप्त था।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों पर संस्कृत नाट्य-परम्परा के जनोपयोगी तत्वों का प्रभाव पड़ा है। 'जानकी मंगल' का अभिनय सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है -- "संस्कृत नाटकों के अनुरूप सर्वप्रथम सूत्रधार ने मंच पर उपस्थित होकर संस्कृत में नांदी पाठ किया। सूत्रधार के भाषण की समाप्ति पर अभिनेत्री ने प्रवेश किया और दर्शकों के मनोरंजन की विधि पर संक्षिप्त वार्ता की। संस्कृत नाटकों का आरम्भ इसी रूप में हुआ करता था। संस्कृत नाटकों में सदा ही सूत्रधार और किसी अन्य व्यक्ति में होने वाली एक संक्षिप्त वार्ता द्वारा नाटक की कथावस्तु का परिचय दर्शकों को करा दिया जाता था। प्रस्तुत नाटक में जिस समय कथोपकथन चल रहे थे, पर्दे के पीछे कोलाहल की ध्वनि हुई। सूत्रधार ने सूचित किया कि श्री राम का वन में आगमन हो रहा है, जिसके कारण कोलाहल हो रहा है। इतना कहकर सूत्रधार और अभिनेत्री उन्हें देखने के लिए दौड़ते हुए पर्दे के पीछे चले गए। इसके बाद ही नाटक का प्रथम दृश्य प्रारम्भ हो गया।"[१] अतएव यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि "भारतेंदु तथा उनका मण्डल संस्कृत की नाट्य प्रणाली से प्रभावित रहा है। संस्कृत नाटकों के काव्यात्मक वातावरण, रूमानियत तथा टैकनीक की छाप नाटकों पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।"[२]

संस्कृत के साथ ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी भारतीय नाट्य मंच की परंपरा सम्पुपस्थित है। रायपसेणिय सुत्त जैन-ग्रंथ में एक कथा

१- डा० वीरेन्द्र नाथ सिंह -- जानकी मंगल नाटक, पृ० ५३।
२- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० १।

उपलब्ध है --"जब भगवान् महावीर आम्लकप्पा नगरी के अम्बशाल वन में अशोक अशोक वृक्ष के नीचे बड़ी-सी काली शिला पर आकर बैठे, उस समय सूर्याभदेव ने वहां आकर, गा-बजा और नाचकर पहले वंदना की और फिर बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक खेले, जिनमें सागर की तरंग, चंद्रोदय, सूर्योदय, हाथी की गति आदि के भी अभिनय थे।"[१] जन-समाज की भांति ही बौद्धों में भी नाटक के प्रति सम्मान था। बुद्ध देव के समक्ष 'ऊँगन्धिका हरण' नामक रूपक अभिनय उनके शिष्य मौदगलायन और उपतिष्य ने किया था, ऐसे जातक कथाओं में उल्लिखित है। ललित विस्तार, अवदान जातक, सद्धर्म पुंडरीक, आदि ग्रंथों में भी नाटकों के अभिनयात्मक विवरण उपलब्ध हैं।

इसके उपरांत ही महाकवि भास के नाटकों से नाट्य-रचना एवं प्रस्तुति की परम्परा प्रारंभ होती है। महर्षि पतंजलि ने कंस-वध और बलि-वध नाटकों का उल्लेख किया है। नाट्यमंचों के निर्माण के संबंध में भारतीय ग्रंथों में उल्लेख है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि नगर के मध्य नाट्यशालाओं का निर्माण नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे कार्य करने वालों को बाधा पड़ती है। इसीलिए प्राचीन काल में अभिनय-कला का चरम विकास मिलने के बाद भी नाट्यशालाओं के उल्लेख कम मिलते हैं। मध्यप्रदेश के सुरगुजा जिले में समुद्र से लगभग दो हजार फुट ऊंची रामगढ़ पहाड़ी में स्थित दो नाट्यशालाओं का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। वे हैं -- सीताबेंगा और जोगीमारा में निर्मित नृत्य-शालाएं। प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह का एकमात्र यही उदाहरण प्राप्त है। इस संबंध में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि --"ये नृत्यशालाएं वास्तव में नाट्यशालाएं न होकर विलासियों के शिलावेश्म हैं। इस प्रकार के शिलावेश्म केवल नृत्यगीत और विलास के केन्द्र थे। ये शिलावेश्म नाट्यगृह नहीं थे क्योंकि पक्की नाट्यशाला बनाने की हमारे यहां पद्धति ही नहीं थी। राज्य की ओर से पक्की नाट्यशालाएं बनाने पर प्रतिबन्ध था।"[२]

१- सीताराम चतुर्वेदी -- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ० १० ।

२- वही, पृ० १० ।

संस्कृत नाट्य-साहित्य और उसके प्रयोगों का अधिकाधिक विकास कालि-दास-युग में हुआ था । तदोपरान्त रंगशालाओं के निर्माण का उल्लेख भी मिलता है । ये रंगशालाएं दो प्रकार की थीं । एक स्थायी जो राजप्रासाद के भीतर बनाई जाती थी और दूसरी अस्थायी जो सामाजिकों की सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान स्थानान्तरित हो सकती थी । प्राचीन काल में नाट्यगृह या प्रेक्षागृह के वर्णन के अनुसार सबसे बड़ी रंगशाला एक सौ आठ हाथ लम्बी थी । मध्यम चौंसठ हाथ थी । छोटी त्रिभुजाकार रंगशाला की प्रत्येक भुजा बत्तीस हाथ होती थी । रंगशाला के दो भाग होते थे । एक भाग अभिनय करने वालों तथा दूसरा प्रेक्षकों के लिए निर्धारित था ।

संस्कृत नाट्यरचना एवं अभिनय का युग ईसा की दसवीं शती तक चला । इसके उपरान्त वह क्रमश: पतनोन्मुख होने लगा और ग्यारहवीं शती के अंत में व्यापक इस्लामी आक्रमण के साथ ही समाप्तप्राय हो चला ।

रंगमंच की दृष्टि से मध्ययुग अत्यधिक क्रान्तिदर्शी युग था । यदि एक ओर इस्लामी विजय ने भारतीय रंग परम्परा को विनष्ट किया तो दूसरी ओर विभिन्न लोकभाषाओं के उद्गम से संस्कृत का प्रचलन अवरुद्ध होता गया और संस्कृत नाटकों का अभिनय निष्फल होने लगा । मुस्लिम राज्याश्रय से विमुख होने के अतिरिक्त भी छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों में पुरानी रंग-परंपरा का अस्तित्व सुरक्षित रहा । देशी गीतों एवं संवादों का प्रचलन युग की मांग बन गई थी । कतिपय विद्वानों ने इस सन्दर्भ में कहा है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आक्रमण न भी हुआ होता तो भी संस्कृत नाटकों का उत्थान पुन: पल्लवित न होता, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार भाषा के प्रचार और प्रसार में परिवर्तन होना अनिवार्य है । संस्कृत बोलचाल की भाषा न होने से जनता के हृदय से क्रमश: दूर होती चली जा रही थी । राजशेखर के समय तक इसके एकाधिपत्य राज्य का विभाजन हो चुका था । प्राकृत, अपभ्रंश के नाटककार राजदरबारों में सम्मान के अधिकारी बने जा रहे थे ।[१] अपभ्रंश में लोकनाट्य

१- डा० दशरथ ओझा -- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ६२ ।

के विभिन्न रूपों की चर्चा यदा-कदा मिल जाती है। उत्तराखण्ड में यात्राओं और रासनाटकों की भी परम्परा मिलती है। .... अपभ्रंश काल के बाद जब आधुनिक भाषाओं और बोलियों का उद्भव और विकास हुआ तो उसके साथ नाट्य साहित्य का भी विभिन्न शैलियों में विभिन्न प्रकार से विकास होता रहा।"[१]

सम्भवत: सर्वप्रथम दसवीं शताब्दी में केरल के राजा कुलशेखर वर्मन ने संस्कृत नाटकों के साथ स्थानीय भाषा के मिश्रण की पद्धति प्रयुक्त की। इस नई परंपरा के प्रयोग का नाम `कूटियाट्टम` रखा गया, जिसका अर्थ ही है मिला-जुला अभिनय। इसका विदूषक मलयालम भाषा ही बोलता है और मंच पर सदा उपस्थित रहकर घटनाओं की व्याख्या करता है। इस प्रकार दर्शकगण सुविधापूर्वक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। त्रिचूर के कुतम्पलम् संज्ञक नाट्य मंडप में यह अभिनय आज भी होता है।

मिथिला में इस प्रकार के देशी भाषा मिश्रण का कार्य १४ वीं शती के राजा हरिसिंह देव के संरक्षण में सम्पन्न हुआ। मैथिली गीतों से युक्त अब तक प्राप्य पहला संस्कृत नाटक उमापति उपाध्याय का `पारिजात हरण` है। महाकवि विद्यापति की कृति `गोरक्ष विजय` नाटक में ऐसा ही प्रयोग है। उसमें पचीस मैथिल गीतों को समाविष्ट किया गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी में उड़ीसा के शासक महाराज कपिलेन्द्र देव ने `परशुराम विजय नाटक` लिखा। इस नाटक में कविता के रूप में भावानुभूति का चित्रण किया गया है, वह मैथिल-कोकिल विद्यापति की परम्परा का ही प्रतिफलन है। इसी प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य आसाम में कविशंकर देव ने रासयात्रा (कृष्ण की रास शैली पर), कालियदमन, रास विजय, रुक्मिणी-हरण, केलिगोपाल, पत्नी प्रसाद, पारिजात हरण, नाटकों की रचना की और इनकी अनेक बार मंच-

---

१- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी -- भारतीय नाट्य परंपरा और दशरूपक, पृ० ४।

प्रस्तुति भी हुई। अस्तु, संस्कृत रंग परंपरा के विघटन के साथ ही अनेक प्रकार के भाषा लोकनाटकों का विकास हुआ। यही लोक नाटकों की परम्परा नौटंकी, तमाशा, भंवाई आदि रूपों में पल्लवित हुई। किन्तु मध्यकालीन रंगमंच का सर्वोत्कृष्ट रूप भक्ति आन्दोलन से सम्बद्ध है। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में भी अनेक प्रभावी रंग-विधाओं का विकास हुआ, जिससे आधुनिक काल तक अपार जनसमूह के जीवन को परितृप्ति मिल रही है। ये दो प्रमुख धाराएं रामलीला और कृष्णलीला हैं। कृष्णभक्ति के आश्रय में रासलीला का विकास महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रेरणास्वरूप श्री हरिवंश जी द्वारा मथुरा में हुआ और राम के अनन्य भक्त तुलसीदास ने मेघाभगत द्वारा रामलीला का प्रवर्तन काशी में किया। इसी के साथ अंकियानट, कीर्तनिया, आदि अन्य अनेक रंग-परम्पराओं का जन्म भी भक्ति आन्दोलन के प्रभावस्वरूप हुआ।[१]

साहित्यिक दृष्टि से मध्यकाल में संस्कृत के कुछ नाटकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया गया है। जैसे अभिज्ञान शाकुंतल [नेवाज और धौंकल मिश्र], मालती-माधव [सोमनाथ], प्रबोध चन्द्रोदय [मल्ह कवि, जसवंत सिंह, अनाथदास, जन अनन्य, सुरति मिश्र आदि], हनुमन्नाटक [हृदयराम] आदि।

इस प्रकार भारतेन्दु-युग के पूर्व तक नाट्य-परंपरा संस्कृत भाषा की नाट्य-परंपरा से विमुख होकर लोकधर्मी नाट्य परंपरा की ओर उन्मुख हो गयी थी।

१- " By the time we come to the 17th Century, the folk theatre had established itself displacing Sanskrit plays. A stage was there, at any cross-roads, an audience had come into existence, dancers and singers and actors had developed into a professional caste.... contemporary men and ways of life had also a place in drama."

(Adya Ranga Charya - The Indian Theatre Page 89)

स्वयं भारतेन्दु ने एवं उनके समकालीन नाटककारों ने संस्कृत के नाटकों को अनूदित एवं रूपान्तरित किया है। अस्तु, संस्कृत का प्रभाव किसी न किसी रूप में विराजमान रहा है, किन्तु रंगमंच की दृष्टि से पर्याप्त परिवर्तन हो गया।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि देववाणी संस्कृत के संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध होने के कारण जन-जन से संस्कृत साहित्य का तादात्म्य विच्छिन्न हो गया और लोकनाट्य परम्परा अपने तीव्र वेग के साथ विकासोन्मुख होती गई। डा० कीथ ने लिखा है कि संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जन-भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्राय: असम्भव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा को समझने में समर्थ था और उसी उच्चपदस्थ अल्पसंख्यक समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे।[1] अत: यह कहना उचित प्रतीत होता है कि "भारतेन्दुकालीन रंगमंच के स्वरूप निर्धारण में संस्कृत नाट्यमंच की अपेक्षा लोकमंच उसके अधिक निकट था, जिसका उद्भव जन जीवन में प्राचीन काल से ही प्राप्त है और जिसका विकास मध्ययुग में हुआ।"[2]

'भरत नाट्यशास्त्र' के अनुसार आदि नाटक की रचना ब्रह्मा द्वारा पंचम वेद के रूप में की गई थी, जिससे अल्पशिक्षित समुदाय को ज्ञान के साथ आनन्द भी उपलब्ध हो। वैसे "नाटक का साक्षात् सम्पर्क तो लोकजीवन के रूपहले पक्षों से ही है। नाटक लोकजीवन की भावनाओं को, धरती की भाषा को और जन-मन की इच्छाओं को रूप प्रदान करते हैं।"[3]

भारतेन्दु-युग के पूर्व लोकनाट्यों का लोकमानस तक सम्प्रेषण प्रभावी रूप में ही हुआ था। भारतेन्दु युग के नाटककारों ने लोकनाटकों के रूप-सौष्ठव

१- डा० कीथ -- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर - वाल्यूम ५, पृ० २३।

२- डा० सुशीला धीर -- भारतेन्दुयुगीन नाटक - पृष्ठ ३८२।

३- श्रीकृष्णदास -- हमारी नाट्य परम्परा, पृ० ४२२।

का माध्यम नाट्य-रचना में ग्रहण किया । "उनके समय में उत्तर भारत के रास-लीला और रामलीला के मंच रूढ़िवादी हो गए थे । उधर बंगाल की 'जात्रा' और मिथिला की 'कीर्तनिया' ने उन्हें प्रेरणा दी थी । लोकनाटकों में कला का अभाव उन्हें अखरा वह तो एक ओर रहा, पर उन्हें देखते हुए एक राष्ट्रीय मंच का उन्होंने तीव्रतम अनुभव किया । इसलिए लोकनाटकों की पद्यात्मक संवाद शैली एवं अन्य नाटक पद्धतियों के समन्वय को लोकरुचि के अनुसार प्रदर्शन का विषय बनाते हुए उन्होंने मंच की स्थापना की । इस काम में उन्होंने अपने मित्रों, परिजनों, शिष्यों सबको समेटा और अपने समय में अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना कर उनका अभिनय कराया ।" [१]

भारतेन्दुयुगीन नाटकों के सहायक लोक नाट्य रूप

लोकनाटकों के विविध रूपों में निम्नलिखित लोकनाट्य-रूप भारतेन्दुयुगीन नाटकों की रचना में प्रमुख रूप से सहायक रहे हैं :--

१- रासलीला
२- रामलीला
३- स्वांग और नौटंकी

रासलीला

रासलीला और रामलीला अत्यन्त प्राचीन लोकनाट्य रहे हैं । हल्लीलक, रासक, प्रेक्षणक द्वारा समारोह आयोजित होने की परंपरा विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में प्रचलित थी । 'रासक' का ~~लक्षण~~ लक्षण करते हुए शारदातनय ने 'भावप्रकाश' में और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में बताया है कि इसमें सोलह, बारह या आठ नायिकाएं पिण्डाकार एकत्र होकर एकदूसरे के साथ श्रृंखलाबद्ध हो अथवा गुम्फित श्रृंखला को तोड़कर पृथक्-पृथक्

१- डा० श्याम परमार -- लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृ० ६ ।

होकर नृत्य करती हैं। प्रेडखण एक प्रकार का नृत्य-विशेष था, जो समाज (एक प्रकार के विशिष्ट पर्वोत्सव) में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। हल्लीसक एक स्त्री-प्रधान नाटक है, जिसमें नायिका-बाहुल्य के कारण नृत्य और गीत की प्रमुखता मिलती है।[१]

राजस्थानी में विशिष्ट साहित्यिक परंपरा का रासक अथवा रास का संबंध रासलीला से स्थापित किया गया है। भागवत के अनुसार दो गोपियों के मध्य में एक कृष्ण का दर्शन जिस नृत्य-नाटिका में होता है, वह रासलीला है। श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध के उन्नीस से तेईस अध्याय में कृष्णरास का व्यापक चित्रण प्रस्तुत हुआ है। महाकवि सूरदास और नन्ददास ने इसी रास का आधार ग्रहण कर ब्रजभाषा में लालित्य एवं माधुर्यनिष्ठ रासलीला का विशद् चित्रण किया है। तदुपरान्त अनेक कवियों द्वारा इस परम्परा को दिशा मिली और यह लोकव्यापी हो सकी। इस प्रकार रासलीला लोकतत्वों से अधिकाधिक अनुप्राणित है। यह कहना उचित होगा कि रासलीला और रामलीला जैसे लोकनाट्यों के मूल में लोकवार्ता के तत्वों को खोजने की चेष्टा की गई है।

`रास` का रंगमंच आयताकार तथा छोटा होता है। मंच पर श्रीकृष्ण और राधा के लिए आकर्षक सिंहासन रखे रहते हैं। समीपस्थ स्थानों में गोपियों के बैठने की समुचित व्यवस्था रहती है। तथा सामने संगीत-मंडली विराजमान रहती है। दर्शकगण सुविधानुसार चारों ओर बैठ जाते हैं। पर्दे आदि का उपयोग नहीं होता है, अतः मंच पर प्रारम्भ से अंत तक सभी पात्र उपस्थित रहते हैं। सचमुच रासलीला नाट्यपरंपरा के माध्यम से ही नाटक का जनता से प्रभावी एवं सीधा सम्पर्क हो सका।

१- डा० नगेन्द्र -- हिन्दी नाट्य दर्पण, पृ० ४०३।

रामलीला

महाकवि तुलसीदास ने रामलीला नाट्य परम्परा के समारम्भ में अभूतपूर्व योग प्रदान किया। उनके समय में काशी के लोकसमाज का रामलीला प्रस्तुति से गहरा लगाव हो गया था। "उन्होंने मंदिरों, मठों तथा राजभवनों से उठाकर रंगमंच को जनता के बीच स्थापित किया। उन्होंने राम तथा कृष्ण दोनों की लीलाओं का आरम्भ काशी में किया। रामलीला की उस भावभूमि के मूल में समाज में अनन्य शील, अतुल शक्ति और अनुपम सौंदर्य की स्थापना का शिव-संकल्प था। उन्होंने भगवान् कृष्ण की उन लीलाओं को भी रंगमंच पर मूर्तित किया जो उनकी शक्ति तथा सौन्दर्य का प्रदर्शन कर लोक को अनाचार से मुक्त कर शक्ति की प्रतिष्ठा करा सके।"[१]

काशी में जितने नरेश हुए हैं, वे सभी रामलीला के विकास में संलग्न रहे हैं। इस दिशा में महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। उन्हीं की उपस्थिति में पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' का अभिनय सम्पन्न हुआ था।

रामलीला का मंच रासलीला के मंच की अपेक्षा संस्कृत नाट्य मंच के अधिक समीप है। इसमें कम से कम दो पर्दों की व्यवस्था रहती है, यद्यपि अंक के साथ दृश्यों का परिवर्तन नहीं होता है। मंच के समीप ही एक व्यक्ति रामचरितमानस लेकर बैठता है और अभिनय के साथ ही दोहा-चौपाई का सस्वर पाठ होता रहता है। भारतेन्दु-युग में रामकथापरक अनेक नाटकों की रचना की गई, जिन्होंने लोकमानस को अभिभूत कर दिया। हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक 'जानकी मंगल' ही अभी तक के प्राप्त विवरण के अनुसार प्रमुख स्थान रखता है। इस नाटक का अभिनय-समाचार लंदन के 'इंडियन मेल एंड मंथली

१- डा० धीरेन्द्रनाथ सिंह -- जानकीमंगल नाटक, पृ० २।

रजिस्टर" [७ मई १८६८] में प्रकाशित हुआ था।[१] इस नाटक से हिन्दी नाटक अभिनीत होने की स्वस्थ परम्परा का मात्र सूत्रपात ही नहीं हुआ, वरन् दर्शकों में नाट्यानुराग उत्पन्न हुआ। अतएव "कृष्णलीला, रामलीला, रासलीला, कीर्तनिया, स्वांग, इन्दरसभा आदि सारी नाट्य प्रणालियां हिन्दी रंगमंच के उदय की भूमिका के रूप में मानी जा सकती हैं। भारतेन्दु बाबू को सारा संस्कृत नाटक और रंगमंच अथवा उनके पहिले का हिंदी नाट्य साहित्य ही उत्तराधिकार में नहीं मिला था, बल्कि हिन्दी रंगमंच की भूमिका के रूप में उपर्युक्त

१- BENARAS, April 4..... Last night a hindi drama named 'Janki Mangal' was acted by natives in the Assembly Rooms, by the order of his Highness the Maharaj of Benaras. Our englightened Maharaja who generally takes an interest in all the concerns the improvement of his countrymen, was present on the occasion, he was accompanied by Kunwar Sahib and his staff. The principle European and native citizens were invited to witness the performances. A few ladies and many military and civil officers were present, and many rich folks of the city. A native band of music attended the entertainment and played during the intervals of the play. As usual with the Sanskrit drama, first of all Sutradhar (Manager) entered and read a few benedictory verses in Sanskrit. When the manager has finished his speech, an actress entered and hold a short conversation with the manager as how to please the audience. I must tell you that this is the way in which Sanskrit dramas used to commence. There is always a short discourse between the manager and some one else, which brings forth the subject of the play. While the dialogue was going on a noise was heard behind the scenes, and the manager said that Ram had come to the forest, which caused the noise. Thus they hastened to see him.............
(Indian Mail and Monthly Register 7th May 1868)

[श्री शरद नागर, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्य]

नाटकीय रूप और स्वांग तथा गीतिनाट्य [आपेरा] भी प्राप्त हुए थे।... भारतेन्दु जी ने इन सब परम्पराओं का अध्ययन किया और उनसे लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच में जो नया युग आरम्भ किया उसमें उन्हें इन सारी प्रणालियों का प्रयोग करने और उनसे बल प्राप्त करने में सहायता मिली थी।"[1]

स्वांग और नौटंकी

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा में स्वांग एक अर्वाचीन नाट्य-शैली है। संस्कृत के पतन के उपरान्त अपभ्रंश भाषाओं और अपभ्रंश भाषाओं के पतनोपरान्त हिन्दी तथा अन्य आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ। प्रत्येक भाषा क्षेत्र में, वहां की जन-रुचि क्षमता और परंपराओं के अनुरूप लोकनाट्य का अभ्युदय हुआ। महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान, बिहार और उत्तरप्रदेश के लोकमानस में स्वांग-परम्परा का ~~प्रक~~ प्रचलन रहा है। नवीं शताब्दी में सिद्ध कण्हपा ने डोम्बी आह्वान गीत की रचना की थी। स्वांग का प्रसारण डोमनियों के नाटक के रूप में प्रस्तुत होकर भारतवर्ष में आच्छादित रहा है। कबीर[2] तथा जायसी[3] के युग में भी स्वांग एक प्रमुख लोकनाट्य था, जिसने अपार जनसमूह को आकृष्ट किया था। "मौलाना गनीमत ने अपनी पुस्तक 'नौरंगे इश्क' में इन स्वांग खेलने वाले भगत बाजों की चर्चा की है।"[4] डोमिनि

१- श्रीकृष्णदास -- हमारी नाट्य परम्परा, पृ० २२०।

२- होय जहां कहीं स्वांग तमाशा
तनिक न नींद सताया रे। -- कबीर

३- पातुर एक हुति जोगि सवांगी,
साह अखोर हुत ओहि मांगी। -- जायसी

४- डा० सोमनाथ गुप्त -- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास [तृतीय संस्करण], पृ० १६।

स्त्रियां ही पुरुष एवं स्त्री वेशों में रंगमंच पर अवतरित होती थीं। लोक में यह परम्परा पहले ही से किसी न किसी रूप में जीवित रही होगी, किन्तु लेखबद्ध परंपरा के अभाव में इसके स्वरूप पर गंभीर विचारणा प्रस्तुत नहीं हो सकी है।

भारतेन्दु-युग के पूर्व इस परंपरा पर श्री अम्बाराम ने सन् १८१६ ई० के आसपास स्वांग के गाने बनाए तथा उसका क्रमिक अभिनय किया। लोक में व्याप्त नाच-शैली का ही आधार श्री अम्बाराम ने ग्रहण किया होगा, अतः यह परम्परा सहज रूप में विकास पा सकी है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अम्बाराम के कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण की और नाटकों में इस शैली को प्रयुक्त किया।

चार या छह तख्तों को जोड़कर एक मंच निर्मित कर दिया जाता है। दर्शक सुविधानुसार चारों ओर बैठ जाते हैं। अभिनेता समीपस्थ किसी कक्ष में विविध वेशभूषा में सज्जित होकर आते-जाते रहते हैं। यदि किसी राजसभा या सम्पन्न व्यक्ति के यहां स्वांग होता तो पर्दे का भी प्रयोग किया जाता था। स्वांग या नौटंकी का सबसे प्रभावी आकर्षण है इसका नक्कारा। नक्कारे का शब्द श्रुतिपटल पर पड़ते ही लोकप्राणी आह्लादित हो जाता है। सम्पूर्ण नाट्य गा-गाकर पूर्ण होता है और प्रत्येक पात्र गाने के साथ नृत्य भी करता था। नृत्य में घुंघरू का प्रयोग भी किया जाता था। प्रारम्भ में सूत्रधार मंगलाचरण गाता है। तब वह नाटक का परिचय प्रस्तुत करता है। पात्रों के संवादों के मध्य भी यथावसर वह बारम्बार कथात्मक-अंश प्रस्तुत कर कथा-प्रवाह को विकसित करता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों की समीक्षा करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है --"प्रतापनारायण मिश्र के `संगीत शाकुंतल` में कालिदास की नागरिकता का नाम नहीं है। यह ठेठ देहात में दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा का अभिनय करने के लिए लिखा गया है। इसका ढांचा न संस्कृत नाटकों का है, न अंग्रेजी नाटकों का, यह नौटंकी का एक विशुद्ध रूप है। इसमें कुछ स्त्री पात्रों के गीत ग्रामगीतों की धुन पर

बनाए गए हैं।"[1] नौटंकी के धूम-धड़ाके का प्रभाव भारतेन्दुयुगीन पारसी-रंगमंच ने भी ग्रहण किया था। पारसी-थियेटर के नाटकों पर शेक्सपीयरिय प्रभाव के साथ नौटंकी के धूम-धड़ाके का प्रभाव भी देखा जा सकता है। दर्शकों के सामने किसी सनसनीखेज दृश्य को प्रस्तुत कर देना, उनको चौंका देना, वृत्तगंधी गद्य में संवाद करना इनकी मुख्य विशेषताओं[2] के परिलक्षण में नौटंकी लोक-नाट्य परम्परा की ही प्रमुख भूमिका है। डा० इंदुजा अवस्थी ने इस सन्दर्भ में लिखा है --"भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में मध्ययुगीन अर्द्धनाट्य रूपों, भांकियों और लीला-नाटकों के रचना-नियम और व्यवहार भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इन नाटकों में अनेक ऐसे दृश्य हैं जिनमें रंगमंच पर उसी प्रकार की चित्रोपम भांकियां सजाई जा सकती हैं जैसी कि लीला नाटकों में तथा अन्य धार्मिक अवसरों से संबंधित शोभा-यात्राओं में सजाई जाती हैं।"[3]

भारतेन्दु युग के विविध रंगमंच

भारतेन्दु-युग के पूर्व विस्तीर्ण नाट्य-परम्परा के रूप-सौष्ठव के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत नाटकों के स्वरूप और लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक-नाट्य-परम्परा ने लोकमानस में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। क्योंकि लोक-नाट्य मंच साधारण जन की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करने में सक्षम होता है, उसका केन्द्रीय बिन्दु चरित्र अथवा व्यक्ति न होकर भाव होता है इसलिए इन नाट्य-मंचों का संगीत से निकटतम सम्बन्ध होता है। इन नाट्य-मंचों पर उपस्थित किए जाने वाले कथानक स्थानीय प्रभावों से समन्वित होते हैं तथा चमत्कारी दृश्यों के सामंजस्य

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० ३७।
२- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० ८८।
३- डा० इंदुजा अवस्थी -- नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० १६।

से कथानक की एकरसता समाप्त हो जाती है। साथ ही इन नाट्य प्रयोगों में लोकजीवन के रीति-रिवाज़ मुखरित होते रहते हैं।

संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, बंगला नाटकों का भी भारतेन्दु-युग में रूपान्तरण हुआ है। साथ ही भारतेन्दु-युग में पारसी थियेटर कम्पनियाँ देश के विभिन्न क्षेत्रों में नाट्य-प्रदर्शन में संलग्न थीं। इस भूमिका में संभवतः भारतेन्दु युग के उपर्युक्त नाटकों के रंगमंचों का प्रभाव संभावित हो गया था। अतएव भारतेन्दुयुगीन विविध रंगमंचों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। इसके विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं :--

१- अंग्रेज़ी रंगमंच
२- बंगला रंगमंच
३- पारसी रंगमंच

अंग्रेज़ी-रंगमंच

भारत के आधुनिक रंगमंच-आंदोलन को पाश्चात्य सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन कहा जाता है। अंग्रेज़ी-शासन सांस्कृतिक प्रभुत्व के लिए सदैव प्रयासरत रहा। "अंग्रेज़ अठारह सौ सत्तावन के गदर के साथ उत्तर भारत में बढ़े थे। इससे पूर्व उन्होंने बम्बई और कलकत्ता में खूब जम कर अपना खेमा गाड़ रखा था अंग्रेज़ इन दो केन्द्रों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और व्यावसायिक अथवा अपने पूर्ण सांस्कृतिक जीवन तथा जातीय महिमा के साथ ज़िंदगी जी रहे थे। उनकी उसी जातीय महिमा में उनका रंगमंच भी था, बहुत सारी चीज़ों की तरह ही जिसे वे अपने साथ हिन्दुस्तान में ले आए थे और नियमित रूप से जिसे हमेशा सीधे इंग्लैंड से ले आते रहे हैं। ऐसा उन्होंने दो कारणों से किया था। अपने रंगमंच में अपने नाटकों को देखने की उनकी आदत और शौक तथा हिन्दुस्तान में अपने सौंदर्य-बोध, नाट्य कला का प्रदर्शन। यह भाव भी कि, शक्तिशाली, पराक्रमी, विजयी अंग्रेज़ जाति की ही तरह उनका रंगमंच भी कितना महान् है -- इस महाग्रन्थि ने भी उन्हें इस दिशा

में जागरूक किया है।"[1] देश के विभिन्न भागों में शेक्सपियर के नाटकों का प्रदर्शन हो रहा था। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने शेक्सपियर के नाटकों के माध्यम से ही पाश्चात्य नाट्य-स्वरूप को समझने का प्रयास किया। लाला श्रीनिवास दास ने शेक्सपियर के 'रोमियो' और 'जूलियट' के आधार पर 'रणधीर प्रेममोहिनी' दुखान्त नाटक की रचना की। पाश्चात्य नाटकों की भांति इसमें प्रस्तावना, नांदी पाठ नहीं है। रणधीर का नायक रोमियो की भांति और जूलियट का अथाह प्रेम शेक्सपियर के दुखान्त नाटकों जैसा है। स्वयंवर का दृश्य मर्चेन्ट आफ वेनिस के कासकेट सीन पर अवलम्बित है। दूसरे नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' के अंतिम दो अंकों में शेक्सपियर के मर्चेण्ट आफ वेनिस' का प्रभाव है। राधाकृष्ण दास के 'महाराणा प्रताप' व 'महारानी पद्मावती' में भी शेक्सपियर का प्रभाव है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि अंग्रेजी नाटक और रंगमंच की धारा को अधिकांश साहित्यकारों ने सीधे अंग्रेजी साहित्य से न ग्रहण कर बंगला-नाटकों द्वारा ग्रहण किया है। अतएव, अंग्रेज़ी-रंगमंच के स्थान पर बंगला रंगमंच ही प्रेरक एवं अनुकरणीय रहा है।

बंगला रंगमंच

हिन्दी नाट्य-कला के विकास में बंगाल की नाट्य-संस्थाओं का अभूतपूर्व योग रहा है। समाज को प्रबुद्ध करने एवं अंग्रेज़ों के अन्यायपूर्ण कार्यों का सशक्त विरोध करने में नाटक पूर्णतः सफल हुए हैं और प्रभावी रंगमंच का स्वरूप निर्मित हो सका है।

सर्वप्रथम बंगाल ही अंग्रेज़ों का प्रभाव-क्षेत्र रहा है। पाश्चात्य-नाटकों का अभिनय यहां अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हो गया था। माइकेल मधुसूदन दत्त, मनमोहन बसु, सतीशचन्द्र बसु, गिरीशचन्द्र घोष आदि नाटककारों

१- डा० लक्ष्मीनारायण लाल -- धर्मयुग, १५ फरवरी, १६७०, पृ० २० ।

ने पाश्चात्य नाटकों से प्रभाव ग्रहण किया था । इनके नाटकों में सामाजिक समस्या, वातावरण-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व, चरित्र-चित्रण, यथार्थ-चित्रण शेक्स-पियर के दु:खान्त नाटकों की भांति है ।

बंगला नाटकों से प्रभाव ग्रहण कर भारतेन्दु ने विद्यासुंदर का बंगला से अनुवाद किया । रुद्र काशिकेय ने इस विषय में लिखा है -- 'विद्यासुंदर की कथा बंग देश में अति प्रसिद्ध है।..... प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा में काव्यस्वरूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंग देश में आबाल वृद्ध वनिता सब उसको जानते हैं । महाराज यतीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी उसी काव्य को अवलम्बन बनाकर जो विद्या-सुंदर नाटक बनाया था, उसी की छाया लेकर आज पंद्रह बरस हुए, यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है।...... विद्यासुंदर नाटक गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है।'[१] इसके कथानक पर शेक्सपीयर के रोमान्टिक नाटकों का भी प्रभाव पड़ा है। राजकुमार सुन्दर विद्या की सौन्दर्य-सुषमा पर मुग्ध होकर विवाह के लिए प्रेरित होता है । इस प्रयास में मालिन सहायता प्रदान करती है और विद्या के पिता बाधा उत्पन्न करते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा दोनों का प्रेम विवाह-सूत्र में परिणित हो जाता है । इस प्रकार नाटकीय शिल्प पर पाश्चात्य-प्रभाव परिलक्षित है । नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार आदि नहीं हैं । पद्य आंशिक रूप में है । हीरा मालिन व धूमकेतु की वार्ता में अन्त-बोध स्पष्ट रूप से है । ऐतिहासिक नाटक 'नील देवी' पर पाश्चात्य प्रभाव है । इस प्रकार भारतेन्दु ने पाश्चात्य एवं बंगला नाटकों से प्रभाव ग्रहण कर नाटकों को जनग्राह्य एवं लोकोन्मुख बनाने का प्रयास किया है । उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में नाटक-रचना के विषय में यह स्पष्ट किया है कि "नाटकों के जटिल नियम नाट्य-संधियां, अवस्थाएं तथा कार्य-प्रकृतियां और नान्दी, सूत्रधार तथा रस-परम्परा का पालन बाधक होगा ।"[२] यद्यपि वे संस्कृत नाट्य-शैली में

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, भूमिका ।

२- वही, पृ० ७५५ ।

आस्था रखते थे व उसका अनुसरण किया है, तथापि युगानुकूल परिवर्तन को भी स्वीकारा है। इसकी आवश्यकता उन्होंने अनुभव की और अपने व्यापक अनुभव से यह अनुमान भी लगा लगाया कि जनता की अब प्राचीन नाट्य-परंपरा के जटिलतम स्वरूप के प्रति आस्था नहीं है। अपने इस उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है --"अब नाटक में कहीं आशी:, कहीं पंच संधि या ऐसे अन्य विषयों की आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटकों की भांति इनका हिन्दी नाटक में अनुसंधान करना अथवा किसी नाटकांग में इनको बा यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा-संपादन करने से फल उल्टा होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।"[1] इस प्रकार नाट्य-रचना में बंगला नाटकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। नाट्य-प्रस्तुति में बंगाल के रंगमंच से भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने प्रेरणा ग्रहण की। स्वयं भारतेन्दु ने बंगाल-प्रान्त की यात्रा की थी, अत: वहां के लोकजीवन एवं नाट्य-प्रस्तुति का अवलोकन किया होगा। बंगाल में उस समय यात्रा लोकनाट्य विख्यात था। महाप्रभु चैतन्यदेव ने अपने मौसा चन्द्रशेखर के निवास पर रुक्मिणी का अभिनय किया था।[2] 'यात्रा' लोकनाट्य में श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त का आधार ग्रहण किया गया है। शिक्षित शिक्षित-अशिक्षित, नागरिक-ग्रामीण, धनी-निर्धन समस्त वर्गों के लिए यह नाट्य-परंपरा मनोरंजन का प्रमुख साधन रही है। देवपूजा के उत्सव के उपलक्ष्य में मेला, शोभा-यात्रा और नाट्यगीत -- ये ही इसके उपकरण रहे हैं। यात्रा में स्वांगों के समान गीतों की प्रधानता रही है और रामलीला, रासलीला जैसा रंगमंच एवं धार्मिक वातावरण विद्यमान रहता है। मंदिर के आंगन ही इसके प्रिय नाट्य-गृह रहे हैं किन्तु बड़े भवनों और राजमार्गों पर भी यात्राओं का अभिनय होता रहा है।

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७५६।
२- हेमेन्द्र नाथ दास गुप्ता -- दि इंडियन स्टेज (भाग-१), पृ० ६५।

भारतेन्दु के अतिरिक्त श्री गोपालराम गहमर [दादा और मैं], रामकृष्ण वर्मा [कृष्णमुरारी नाटक एवं पद्मावती नाटक], मुंशी उदित नारायण लाल वर्मा [अश्रुमती नाटक] ने बंग भाषा के नाटकों का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है।

पारसी रंगमंच

अंग्रेजी और बंगला नाटकों के रंगमंच की विवेचना के उपरान्त पारसी-रंगमंच के स्वरूप को समझना आवश्यक है, क्योंकि भारतेन्दु-रंगमंच के समानान्तर यह रंगमंच भी विकसित होता रहा है। इस रंग-परंपरा को व्यवसायी नाटक मंडली के नाम से अभिहित किया जाता है। इनकी स्थापना के पूर्व प्लासी-युद्ध के उपरान्त अंग्रेजों ने कलकत्ता में 'प्ले हाउस' और 'कैलकटा थियेटर' रंगमंचों की स्थापना की। इन रंगमंचों पर बंगला नाटकों का भी अभिनय होता था। अंग्रेजों की देखा-देखी कलकत्ते में बंगाल-थियेटर, ओरियंटल थियेटर आदि की स्थापना हुई थी।

नाट्य-प्रस्तुति की ओर झांसी के महाराज गंगाधर राव और लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह का भी ध्यान आकृष्ट हुआ।

"झांसी की रंगपरंपरा का शुभारंभ महारानी लक्ष्मीबाई के पति महाराज गंगाधर राव ने किया था वे नाटक खेलने-खिलाने के बड़े शौकीन थे और स्वयं स्त्रियों की भूमिका में अभिनय किया करते थे। उनके रंगमंच पर खेले जाने वाले दो नाटकों के नाम मालूम हो सके हैं -- शकुंतला और हरिश्चन्द्र। नाटकों के लिए पर्दे तैयार करने का काम सुखलाल नामक एक चित्रकार करता था। रंग-मंच की यवनिका पर किसी पौराणिक प्रसंग का एक चित्र रहा करता था। यवनिका उठने पर सर्वप्रथम पुष्पमालाओं से सजी गणेश जी की मूर्ति का दर्शन होता था। एक सुसज्जित तिलकधारी ब्राह्मण आरती उतारता था और

अपनी-अपनी वेशभूषाओं में सजे हुए अभिनेता-अभिनेत्रियां गणेश स्तुति करते थे। मंगलाचरण के बाद नाटक की कथा का थोड़ा-सा परिचय दिया जाता था और यवनिका गिरा दी जाती थी। नाटक का आरम्भ इसके बाद यवनिका को फिर से उठाकर होता था। नाटकों में किसी न किसी प्रकार गायन, वादन और नृत्य के लिए भरपूर अवसर निकाल लिए जाते थे किन्तु संवाद गद्य में ही होता था। नाटकों से किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य निकलती थी।"[१]

वाजिद अली शाह ने 'किस्सा राधा कन्हैया' की रचना की। सन् १८५३ ई० में अमानत ने 'इन्दर सभा' की रचना की। इस कृति ने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की। "हिन्दी प्रदेश में रासलीला से प्रभावित होकर नवाब वाजिद अली शाह ने अमानत द्वारा 'इन्दर सभा' के निर्माण के पश्चात् सन् १८५३ ईसवी के आसपास कैसरबाग, लखनऊ में एक रंगमंच बनवाया था, किन्तु इन्दरसभा का रंगमंच न तो साहित्यिक-शैली का रंगमंच था और न जन नाट्य-शैली का ही। इसलिए बहुत कम अंशों में ही वह हिन्दी के साहित्यिक मंच को प्रभावित कर सका है।"[२]

भारतेन्दु 'इन्दर सभा' की अश्लीलता के आलोचक बन गए थे। इस प्रवृत्ति के विरोध में उन्होंने 'बंदर-सभा' की रचना की। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है --"इन्दर सभा उरदू में एक प्रकार का नाटक है या नाटकाभास है और यह बंदर सभा उसका भी आभास है।" इंदर सभा में परियां आती हैं, किन्तु बंदर सभा में राजा बंदर और शुतुरमुर्ग परी आती है। जैसे :--

[चौबोले जबानी राजा बंदर के बीच अहवाल अपने के]

पाजी हूं मैं कौम का बंदर मेरा नाम।
बिन फुजूल कूदे फिरे मुझे नहीं आराम॥

१- डा० वृन्दावनलाल वर्मा -- पृथ्वीराज अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४२१।

२- डा० सुशीला धीर -- भारतेन्दुयुगीन नाटक, पृ० १८६।

सुनो रे मेरे देव रे दिल को नहीं करार ।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार ॥
लाओ जन्नों को मेरे जल्दी जाकर ह्यां ।
सिर मूड़े गारत करें मुजरा करें यहां ।

(आना शुतुरमुर्ग परी का बीच सभा में)

आज महफ़िल में शुतुरमुर्ग परी आती है ।
गोया गहमिल से बलैली उतरी आती है ॥[1]

भारतेन्दु के अनुकरण पर श्री रामभजन मिश्र ने `मुछन्दर सभा` की रचना की --

सभा में राजा मुछन्दर की आमद-आमद है ।
परेत-भूतों के के अफसर की आमद-आमद है ॥
संभल के बैठो करीने के साथ महफिल में ।
हरामजादों के लश्कर की आमद-आमद है ॥[2]

`भारत डिमडिमा नाटक` में सूत्रधार कहता है -- "हे प्यारी ! हम इनको इन्दरसभा की भांति ही कोई नाटक दिखलाएंगे । मेरा अभिप्राय इंदर सभा के भांति यह नहीं कि जैसे इंदर सभा देखकर हमारा भारत नाश हुआ है, वैसे ही इसके तुल्य एक और नाटक देखलाकर नाश करूं - परन्तु यह इच्छा है कि गाना-बजाना तो इसी भांति का हो, किंतु देशउपकारी और धर्मरक्षक हो ।"[3] इंदरसभा की लोकनाट्यपरक अभिनय शैली का विवरण सैयद मसूद हसन रिज़वी ने `लखनऊ का अवामी स्टेज` में प्रस्तुत किया है । "इंदर सभा के प्रदर्शन के लिए

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७२६ ।
२- राम भजन मिश्र -- मुछन्दर सभा, पृ० १ ।
३- जगत नारायण - भारत डिमडिमा नाटक - पृ०१

कोई रंगमंच नहीं बनाया जाता था । खुले आंगन में शामियाना लगा दिया जाता था । शामियाने के नीचे राजा इन्द्र के लिए तख्त बिछा दिया जाता था । परियों के लिए कुर्सियां रख दी जाती थीं । साजिंदे परियों के पीछे बैठते थे । सामने तीन तरफ दर्शकों के बैठने के लिए तख्त डाल दिए जाते थे । बीच में जो खाली जगह होती थी वही अभिनय क्षेत्र का काम देती थी । साजिन्दों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा तान दिया जाता था । यही पर्दा पात्रों के प्रवेश के लिए काम में लाया जाता था । रंगमंच की इस सज्जा के साथ नाटक आरम्भ होता था ।.... राजा इंदर पर्दे के पीछे आकर खड़े हो जाते थे और रुक-रुक कर घुंघरू बजाते हैं । इसके बाद गायक इन्दर की आमद गाते हैं । पर्दा उठता है । मेहताब छूटती है और राजा इंदर काले और लाल देव के साथ प्रवेश करते हैं । अभिनय-क्षेत्र में आकर राजा इंदर अपना परिचय और नाटकीय प्रयोजन बताते हैं, अपना संवाद गाते हैं और नृत्य करते हैं । इसके बाद वे तख्त पर जाकर बैठ जाते हैं । काला और लाल देव तख्त के दाएं-बाएं खड़े हो जाते हैं । इसके बाद देव पुखराज परी को बुलाने जाता है । फिर पहले की तरह पर्दा लाया जाता है । पुखराज परी पर्दे के पीछे छिप जाती है । इसकी आमद गायी जाती है । इसके बाद पर्दा हट जाता है । वह गाती हुई अभिनय क्षेत्र में आती है और अपने नाटकीय संवाद प्रस्तुत करती है । इसी क्रम से एक के बाद एक परियां आती हैं और अपने संवाद गाकर कुर्सियों पर बैठ जाती हैं । राजा इंदरदेव और परियां सभी पात्र नाटक के अन्त तक रंगस्थली में ही उपस्थित रहते हैं । वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते ।"[1] संगीतात्मक ध्वनि के लिए घुंघरू तथा प्रकाश व्यवस्था के लिए मेहताब का प्रयोग लोकोन्मुखता को व्यक्त करता है । पारसी रंगमंच की परंपरा को डा० बच्चन सिंह ने इंदर सभा की परम्परा से जोड़ा है । उनका अभिमत है कि -- "सन् १८५३ ई० में अमानत ने 'इंदरसभा' नाटक लिखा । यही सही अर्थ में ओपेरा था । यह

१- डा० सुरेश अवस्थी -- इंदरसभा का रूपांत अध्ययन [नटरंग अंक ६]

काफ़ी लोकप्रिय हुआ । पारसी रंगमंचों को `इंदर सभा` की परंपरा से जोड़ा जा सकता है ।"[1]

बम्बई में सर्वप्रथम पारसी-गुजराती अव्यवसायी रंग-संस्थाएं बनीं । पारसी नाटक मंडली ने १८५३ के आसपास गुजराती नाटक `रुस्तम अने सोराब` की प्रस्तुति की । इसके प्रेरक दादा भाई नौरोजी तथा डा० भाऊ दाजी थे । ऐसे अव्यवसायी रंग-संघटनों की संख्या बीस तक पहुंच गई थी ।

अव्यवसायी नाटकों की सफलता से प्रभाव ग्रहण कर अनेक नाट्य मंडलियों ने व्यावसायिक रूप ग्रहण किया । पारसी-रंगमंच का यह रूप सेठ पेस्टन जी फ्राम जी के प्रयत्न से स्थापित हुआ । बम्बई में १८७० में `ओरिजिनल थियेट्रिकल कंपनी` की स्थापना की । पैस्टन जी स्वयं माने जाने अभिनेता थे । खुरशेद जी बल्लीवाला, सोहराब जी और जहांगीर जी इस थियेटर के कुशल अभिनेताओं में से थे । इसके मंच पर `खुदा दोस्त`, `चांद बीबी`, `इशरत सभा`, `लैला-मजनू` आदि नाटकों की प्रस्तुति हुई । इसी के अनुकरण पर दिल्ली में `विक्टोरिया कंपनी` की स्थापना हुई । विनायक प्रसाद तालिब इस कंपनी के प्रमुख लेखक थे । उनके सुप्रसिद्ध नाटक हैं -- `गोपीचन्द्र` व `हरिश्चन्द्र` । बम्बई में एक दूसरी कंपनी `अलफ्रेड थियट्रिकल कंपनी` ने भी नारायण प्रसाद बेताब के नाटकों का प्रदर्शन किया ।

भारतेन्दु-युग में पारसी-रंगमंच ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी । ख्याति का कारण निम्नस्तरीय वर्ग को सस्ता मनोरंजन प्रदान करना था । परिणामत: भारतेन्दु जैसे सुरुचिपूर्ण युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व ने पारसी रंगमंच की तीव्र आलोचना की । उनके प्रख्यात प्रबन्ध `नाटक` की अनेक स्थापनाओं क्रम में और प्रतिक्रियाओं में पारसी-नाटक की ही चर्चा है । अत: इन पारसी कंपनियों की व्यावसायिक मनोवृत्ति के कारण कलात्मक-विकास की संभावना क्षीण हो गई थी ।

१- डा० बच्चन सिंह -- हिन्दी नाटक, पृ० ९७ ।

धार्मिक-पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों के माध्यम से धर्मप्राण जन-समूह का सस्ते मनोरंजन के नाम पर शोषण करना इन कंपनियों का लक्ष्य था। इसीलिए इनका रचनात्मक मूल्य न आंक कर ऋणात्मक मूल्य आंका गया है।

पारसी नाटक कंपनियों के पास रंगमंच की साजसज्जा और चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों के लिए धन की कमी नहीं थी। विविध चमत्कारपूर्ण दृश्य और रंग-बिरंगे पर्दे सामान्य जन के लिए आकर्षण के केन्द्र थे। इनके वैतनिक अभिनेता और नाटककार भी थे, जो अपनी कंपनी मालिकों के लिए उनकी रुचि के अनुसार नाटक रचना करते और अभिनय प्रस्तुत करते थे। नाटकों में संगीत और नृत्य की प्रधानता रहती थी। चलताऊ गाने और नर्तकियोचित अंग-भंग प्रदर्शन जनसामान्य को प्रभावित करने के लिए एक प्रमुख साधन था। स्त्री पात्रों के लिए इन्हें पुरुषों से काम नहीं लेना पड़ता था। स्त्रियां ही इनके नाटकों में काम करती थीं, जिसका साहित्यिक नाट्य-मंचों में अभाव रहता था। पं० देवकीनंदन त्रिपाठी कृत 'सैकड़ों में दस-दस (हस्तलिखित)' शीर्षक प्रहसन के निम्न उद्धृत वार्तालाप में पारसी-नाटक के प्रति साधारण लोगों की प्रतिक्रिया का स्वरूप उपस्थित हुआ है --

"प्रमोद बिहारी -- "नारायण, फिर भी ऐसी बात कहते हो। जाने दो, मुहब्बत को। चलो, नाट्यशाला को चलें। जहां कुछ उन्नति की बातें होती हैं। यहां से क्या और नाहक इज्जत गंवाना है।

दुलारीचरन (खीज के) -- अजी साहब क्या बकते हो। पागल हो गए हो क्या, जो नाट्यशाला-नाट्यशाला पुकार रहे हो। भले आदमियों के शाला होने से पेट नहीं भरा, अब 'नटों के शाला' होने पर भरेगा ?

\+ \+ \+

दु० -- भला दो घड़ी से नाट्यशाला-नाट्यशाला बक रहे हो। कभी इसका अर्थ तो बताओ, यह ससुरी कौन सी चीज़ है, जो तुम उस पर 'आसक' हो गए।

\+ \+ \+

दु० -- नाटक किस चिड़िया का नाम है ?

प्र० -- ड्रामा, ड्रामा, ड्रामा समझते हो कि नहीं ?

दु० -- जी हां, ड्रामा को जरा उर्दू में तो ब्यान कीजिए ।

प्र० -- उर्दू में तो इसकी कहीं भी जिक्र नहीं है । हम कहां से करें, आप ड्रामा के माने नहीं जानते ?

दु० (सोच के) -- ड्रामा ! जी हां, जानता हूं -- एक तरह की किताब अंग्रेजी में होती है । लेकिन उसका यहां पर क्या काम है ? आप क्या उसी वाहियात किताब को पढ़कर 'ऐसा पागल' हो गए ?

प्र० -- वाह जी वाह, आप तो कुछ-कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं । फिर भी ऐसी अदृद की सदृद समझ ? जरा अक्लि में तेल को पुचाड़ा देकर आवो तो ड्रामा का अर्थ समझ पड़े ।

\+ + +

इन्द्रनाथ (हंस के) -- आज साहब, एक दफे एक ववन्नी खरचो तो जान पड़े नाटक क्या चीज है ?

पारसी रंगमंच के रूपगत विवेचन और उसके प्रतिक्रियात्मक स्वरूप के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पारसी रंगमंच का प्रभाव-क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया था । विरोध के बावजूद भी भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने पारसी-रंगमंच से प्रभाव ग्रहण किया । यह प्रभाव केवल रंगमंचीय तत्वों की दृष्टि से अनुकरणीय रहा है । हिन्दी रंगमंच का यह प्रारम्भिक अभ्युदय काल था, अतः उसमें सामयिक रंगमंच के तत्वों का प्रयुक्त होना स्वाभाविक हो गया था । अनेक नाटककारों ने पारसी रंगमंच के घटना-विधान को भी अपनाया है, इस प्रकार हिन्दी नाटकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस सम्बन्ध में श्री कुंवर जी अग्रवाल ने लिखा है कि --"आगे चलकर भारतेन्दु ने कुछ विकसित पारसी नाटक भी अवश्य देखे थे क्योंकि उनका प्रभाव उनकी अंतिम दौर की नाट्य-रचनाओं पर दिखाई पड़ता है ।"[१]

१- कुंवर जी अग्रवाल -- नटरंग, वर्ष ३, अंक ६, पृ० ४० ।

द्विजकृष्ण दत्त ने 'युगल विहार नाटक' में राधा-कृष्ण के विहार का चित्र खींचा है। इस नाटक पर "रीतिकाल से अधिक पारसी नाटक शैली का प्रभाव है। नाटक का वर्णन विस्तार भी पारसी शैली की ओर संकेत करता है।"[1] पं० दामोदर शास्त्री के 'रामलीला नाटक' में "मारीच के दरबार में विदूषक उपस्थित है, जो अंग्रेजी डाकखाने या तार आफिस से सूचना पहुंचवाने के पक्ष में है (बालकांड गर्भांक ४), यह पारसी नाटकों का प्रभाव है। लेखक ने देशकाल दोष की चिन्ता नहीं की है।"[2] इसी प्रकार राय प्रभुलाल के द्रौपदी वस्त्र हरण नाटक में पारसी नाटकों के कौतूहल-विधान[3], बलदेव जी अग्रहरि के 'सुलोचना-सती' पर समानान्तर कथा-क्रम[4] का प्रभाव है।

'सुलोचना-सती' में एक ओर मत्ता-पुरोहित भाट की कथा है तो दूसरी ओर सुलोचना, सती, रावण, मंदोदरी की पौराणिक कथा का निर्वाह हुआ है। इस प्रकार समानान्तर कथा-क्रम का रूप उपस्थित हुआ है।

"पुरोहित -- हमारे पूर्वजों ने इन भांड़ और भाटों को इतना शोख बना दिया है कि ये सिर पर चढ़कर बेसुरी तान अलापने में भी जरा संकोच नहीं करते।

भाट -- तुम्हारे ही जैसे कर्तव्य-शून्य हां में हां मिलाने वालों ही ने तो स्वतन्त्र भारत को दास बना दिया। पति को स्त्री भक्ति वो स्त्री को पति भक्ति तथा दोनों ही को ब्रह्मचर्य की शिक्षा न देकर इनको विषई बना दिया। अपने धार्मिक और सामाजिक तेज बल को मिट्टी में मिला दिया। नहीं तो क्या यह स्वप्न में सम्भव था कि पुण्यमय देश पापियों का भण्डार बनेगा।

\+ + +

१- डा० गोपीनाथ तिवारी -- भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १४७।

२- वही, पृ० १४५।

३- वही, पृ० १५०।

४- वही, पृ० १५१।

मन्दोदरी -- हां प्यारी, हा कुलवधू, यह अपयश तेरे ही सिर पड़ी गयी। क्या तू हतभागिनी हुई। हाय! हाय! पुत्र इन्द्रजीत, क्या तुम्हारा नाम आज से इस संसार के इतिहास से उठ गया। हाय! हाय! मेरा खिलौना किसने तोड़ा? हाय, नाथ इस घर का उजाड़कर कहां जा बसे! क्या आज से मैं बांझ हो गई। हाय मेरा मुख अब कोई भाग्य-भागिनी नहीं देखेगी।[1] किन्तु इन प्रभावों को सामयिक ही कहा जायगा। कौतूहल-विधान तो लोक का अपना विशिष्ट विधान है, जिसे मात्र पारसी-रंगमंच के स्वरूप से संयुक्त करना अनुपयुक्त होगा।

भारतेन्दु-युगीन रंगमंच का लोक पक्ष

काशी-रंगमंच

भारतेन्दु-युग के व्यापक रंगकार्य का अत्यन्त अत्यल्प विवरण सुरक्षित रह सका है। भारतेन्दु का व्यक्तित्व पूर्णतः नाटकीय था। जिन्दादिली, उत्सव-प्रियता, सामाजिक चेतना और पैनी कवि दृष्टि ने न केवल उन्हें नाटककार बनाया, बल्कि उनमें प्राकृतिक अभिनेता के मूल तत्वों को भी संजो दिया। वे मंच पर नहीं, वास्तविक जीवन में भी अभिनय करते थे। पहली अप्रैल को सामूहिक परिहास उनका प्रिय व्यसन बन गया था। वे नारी वेश धारण करके चित्र खिंचवा सकते थे और लाट साहब के दरबार में अपनी जगह अपने मशालची को अपना कपड़ा पहनाकर भेज सकते थे। तरह-तरह की पोशाकें धारण करने और दिन में कई बार कपड़े बदलने की तो उन्हें लत-सी पड़ गई थी, जिसकी राजेन्द्र लाल मित्र ने आलोचना भी की थी। उनकी सहज अभिनयशीलता का एक सुंदर चित्र बाबू शिवनन्दन सहाय ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है --

---

१- बलदेव जी अग्रहरि -- सुलोचना सती नाटक, पृ० १३।

"उसी क्लब [पंनी रीडिंग] में बाबू साहब एक श्रांत पथिक का स्वांग बनकर आए थे। वह गठरी पटककर पैर फैलाकर इस ढंग से बैठ गए थे कि दर्शकगण आनन्द से लोट-पोट हो गए। एक बार महा पैगम्बर बने थे। स्टेज सजा था, परदा खुला था। आप सिर नंगे, बनारसी जरी की फकनी पहने चौकी पर खड़े थे, आगे रंग-बिरंगा शर्बत बोतलों में भरा था। पं० चिन्तामणि तथा पं० माणिकलाल जोशी शिष्य बनकर चंवर हाथ में लिए दोनों ओर खड़े थे। सैकड़ों गज का गज जोड़कर जन्मपत्री से लपेटे स्वयं हाथ में लिए थे। उसे खोलते जाते थे और पांचवे पैगम्बर का उपदेश पढ़ते जाते थे। अपूर्व दृश्य हुआ था।"[१] भारतेन्दु के रंग कार्य की महानता का विवरण 'इंडियन स्टेज' में आदि रंगाचार्य ने प्रस्तुत किया ~~था~~ है।

"भारतेन्दु की महानता इस तथ्य में है कि उन्होंने पूर्ण चेतना के साथ रंगमंच को दिशा दी।..... वे संस्कृत नाटक के अन्ध-प्रशंसक नहीं थे। वे स्वयं रंगमंच में सक्रिय रुचि रखते थे। उन्होंने जो उपयुक्त समझा, उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उन्होंने उत्साही साहित्यकारों तथा रंगकर्मियों का एक सशक्त समूह बनाया और नाट्याभिनय में योग प्रदान किया। वे इस तथ्य को भलीभांति जानते थे कि रंगमंच की पर्याप्त उन्नति से ही लोकमानस शक्तिशाली बन सकता है।"[२]

अतएव यह स्पष्ट है कि साहित्यिक हिन्दी के वास्तविक रंगमंच और नाट्य-लेखन की ~~परम्प~~ परम्परा का शुभारंभ भारतेन्दु ने किया। इस दृष्टि से सन् १८६८ ई० का बहुत बड़ा महत्व है। यह भारतेन्दु की अभिनय कला और नाट्यलेखन दोनों के आरंभ का काल है। इसके पूर्व हिन्दी के आधुनिक रंगमंच के प्रारंभ के जो भी प्रयत्न किए गए थे, वे अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में थे और

१- नेमिचन्द्र जैन [संपादक] -- नटरंग, वर्ष ३, अंक ६, पृष्ठ ४२।
२- आद रंगाचार्य -- इंडियन स्टेज, पृ० ८८।

और उसमें हिन्दी के स्थान पर खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया गया था, जिससे हिन्दी-क्षेत्र के लोगों की सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति संभव नहीं थी ।

यह शुभारम्भ ३ अप्रैल १८६८ को हुआ । इस अवसर पर काशी के महाराज ईश्वरीनारायण सिंह तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उत्साहपूर्ण प्रयत्नों से पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत जानकी मंगल का बनारस थियेटर में अभिनय हुआ । यह स्थान वाराणसी शहर से तीन-चार मील पश्चिम सैनिक क्षेत्र में स्थित है और आजकल पुराना नाचघर के नाम से जाना जाता है । इसकी इमारत मूलत: सैनिकों के मनोरंजन-स्थल के रूप में १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में विजयनगर के महाराजा द्वारा बनवाकर भेंट की गई थी । इस दिन यह नाटक अभिनीत न हो पाता यदि भारतेन्दु अपनी तीव्र प्रतिभा का परिचय न देते । लक्ष्मण की भूमिका करने वाला पात्र रुग्ण हो गया था और इस तथ्य की जानकारी उस समय हुई, जबकि अभिनय का आयोजन पूर्ण हो गया था और प्रमुख लोगों का आगमन हो गया था । अभिनय स्थगित करने के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा विकल्प नहीं था, उसी समय भारतेन्दु वहां पहुंचे । उन्हें इस 'वाङ्मय-यज्ञ' का स्थगन अच्छा नहीं लगा और उन्होंने अपने आभिजात्य की लेशमात्र परवाह किए बिना ही लक्ष्मण की भूमिका अभिनीत करने का संकल्प किया । उन्होंने एक घंटे की अवधि में ही न केवल अपनी भूमिका स्मरण की बल्कि पूर्ण 'जानकी मंगल नाटक कंठस्थ कर लिया । एक अनुश्रुति के अनुसार 'नीलदेवी' नाटक में उन्होंने पागल की भूमिका का निर्वाह किया था । तदोपरान्त उन्होंने अपने जीवन का एक विस्तृत भाग रंगमंच की स्थापना और विकास-कार्य में समर्पित कर दिया । काशी के रंगान्दोलन का नेतृत्व काशिराज ईश्वरीनारायण सिंह ने प्रमुख रूप से किया था । नाट्य-कला के पुनरुद्धार की सदिच्छा से उन्होंने अपने दरबारी कवि गणेश को इस दिशा में कार्यरत रहने का आदेश प्रदान किया था, जो कि उनकी नाट्य-रुचि का परिचायक है --

"भूप मौलि श्री ईश्वरीनारायण महाराज ।
लखि मेरे गुन रीझि के आयसु दयो दराज ॥

गये बीति अनगन बरष नाटक विधि व्यौहार ।
भये गुप्त तेहिं प्रकट करि दरसावी सुख सार ॥[१]

भारतेन्दु की प्रेरणा से ही काशी में 'नेशनल थियेटर [सन् १८८४ ई०] की स्थापना हुई, जिसमें हिन्दी भाषियों के साथ बंगालियों का भी सहयोग रहा। भारतेन्दु इस नाट्य-संस्थान के संरक्षक थे और 'अंधेर नगरी' नाटक इसी संस्था के लिए एक रात्रि में लिखा था। बाबू शिवनन्दन सहाय ने लिखा है --"पारसी और महाराष्ट्री नाटक वाले अंधेर नगरी प्रहसन प्राय: खेला करते हैं, किन्तु उन लोगों की भाषा और प्रक्रिया सब असम्बद्ध होती है। बनारस में दशाश्वमेध घाट पर बंगाली तथा पश्चिमोत्तरदेशियों ने एक नेशन नेशनल थियेटर स्थापित किया था। हमारे चरित्र नायक उसके परम सहायक थे। एक बार उस नाटक वालों ने इनसे अंधेर नगरी के अभिनय की इच्छा प्रकट की तो इन्होंने यह विचार कर कि किसी काव्य कल्पना बिना व सदुपदेश निकले बिना यदि कोई नाटक खेला गया तो वह सर्वथा व्यर्थ है, इस पुस्तक की एक दिन में रचना की।"[२]

प्रयाग रंगमंच

हिन्दी रंगमंच के विकास में काशी के उपरान्त प्रयाग का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारतेन्दुयुगीन प्रयाग में हिन्दी रंगमंच को सक्रियता प्रदान करने में वहां के साहित्यसेवियों एवं अनुरागियों का सत्प्रयास सहायक रहा है। तत्कालीन गतिविधियों पर विचार करते हुए यह कहना उपयुक्त होगा कि उस समय हिन्दी के प्राय: समस्त प्रमुख नाटकों के मंचावतरण करने का प्रयास प्रयाग नगर में किया गया था।

प्रयाग में हिन्दी रंगमंच का प्रारंभ सन् १८७०-७१ में हुआ था। 'आर्य

१- नेमिचन्द्र जैन --[संपादक] नटरंग, वर्ष ३, अंक ९, पृ० ४० ।
२- वही, पृ० ४४ ।

नाट्य सभा' [१८७०-७१] ने हिन्दी के अनेक नाटकों को अभिनीत किया। यह संस्था एक नाट्य-पत्र भी प्रकाशित करती थी। इसके संस्थापक पं० देवकीनंदन त्रिपाठी थे। उन्होंने 'भारती हरण' नाटक की भूमिका में लिखा है --"इस समय में विज्ञान दुःखी भारतवासियों को ऐसे नाटक दिखलाने की आवश्यकता है कि जिससे इनको अपनी भलाई-बुराई का भी ज्ञान हो और जो-जो दुःख इस समय इन पर है, उनसे दूर करने को मन चित्त उमड़े। इसी विचार से यहां प्रथमे प्रयाग राज में 'आर्य्य नाट्य सभा' नाम से एक मंडली बनी थी, उसने अनेक नाटकों का अभिनय किया, उसी मंडली की प्रेरणा से यहां प्रयाग में नाट्य-पत्र नामक मासिक छपने लगा।"

लाला श्रीनिवास दास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' का अभिनय हिन्दी-प्रदेश की इसी महत्वपूर्ण नाट्य-संस्था ने किया था। 'रणधीर प्रेममोहिनी' की भूमिका काशी से भारतेन्दु ने लिखकर भेजी थी, जिसमें सूत्रधार के माध्यम से भारतेन्दु ने नाटक की महिमा व्यक्त की है। उन्होंने लिखा था,"सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है, क्योंकि यहां के लोग कौतुकी बड़े हैं। दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है, वैसी और तरह से नहीं।" 'रणधीर प्रेममोहिनी' ही इस नाट्यसंस्था द्वारा अभिनीत प्रथम नाटक माना जाता है। नाटककार श्रीनिवास दास ने 'रणधीर प्रेममोहिनी' के द्वितीय-संस्करण [सन् १८८०] की भूमिका में लिखा है --"आर्य नाट्य सभा ने इस नाटक का अभिनय करके मेरा विचार सफल किया। इसलिए मैं 'आर्य नाट्य सभा' को भी अनेक धन्यवाद देता हूं। 'आर्य नाट्य सभा' का यह अभिनय प्रयाग में छठी दिसम्बर १८७१ ई० को हुआ था।" लाला शालिग्राम वैश्य ने अभिनयात्मक-विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है --"प्रयाग के लोगों ने श्रीमान् लाला श्रीनिवास दास दिल्लीवासी जो तप्ता-संवरण, संयोगिता-स्वयंवर, प्रह्लाद नाटक के रचयिता हैं, उन्हीं का रचित 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक बड़े आनन्द के साथ किया.... जिस समय रिपुदमन मारा गया और उसके शोक में रणधीर ने भी अपने प्राण दिए, उस समय का प्रेममोहिनी का ~~बिलकर~~ विलाप सुनकर सैकड़ों मनुष्य नेत्रों से अश्रुधार बहाने लगे और जब प्रेममोहिनी ने

हाय रणधीर कहकर अपना शरीर छोड़ा, उस समय सब मनुष्य अचानक हाहाकार कर उठे, सबका हृदय विदीर्ण होने लगा ।"[१]

२६ अगस्त १८७६ को प्रयाग के रेलवे-थियेटर रंगमंच पर 'आर्य नाट्य सभा' ने पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' तथा पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'जयनार सिंह की' का अभिनय प्रस्तुत किया, जिसका विवरण 'समय-विनोद' ने प्रकाशित किया था । "२६ अगस्त को प्रयाग आर्य नाट्य सभा के मैंबरों ने रेलवे-थियेटर में 'जानकी-मंगल' नाटक और 'जयनार सिंह की' लीला का अभिनय किया था -- अबकी बार का अभिनय बहुत ही उत्तम हुआ । नाटक रसिकों की भीड़ भी ५०० से अधिक हुई थी ।.... उसमें जानकी के रूप की सजावट और उसकी सखियों का गान, परशुराम का क्रोध और मल्लियों का गीत -- ये तो अत्यन्त उत्कृष्ट हुए थे ।"[२] इन नाटकों के अतिरिक्त पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'कलियुगी जनेऊ', लाला शालिग्राम वैश्य कृत 'काम-कंदला' का भी अभिनय हुआ था ।

'आर्य नाट्य सभा' के समकालीन रेलवे थियेटर सक्रिय था । यह रेलवे का सांस्कृतिक रंगमंच था, जहाँ अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त नाट्याभिनय भी होता था । 'भारत सौभाग्य' की भूमिका में नाटककार ने विवरण दिया है कि "कांग्रेस अधिवेशन में नाटक अभिनीत न हो सका, तो रेलवे थियेटर प्राप्त करना चाहा किन्तु वह भी सुलभ न हो सका ।" 'आर्य नाट्य सभा' के अनेक नाटकों का अभिनय इसी रंगमंच पर हुआ था ।

भारतेन्दु-युगीन प्रयाग की तीसरी महत्वपूर्ण नाट्य-संस्था श्री रामलीला नाटक मंडली [सन् १८८६ ई०] थी । इस संस्था के संघटन के विषय में शिवपूजन सहाय ने लिखा है --"बात बहुत पुरानी है -- लगभग सन् १८८६ ई० के जमाने की ।

१- डा० धीरेन्द्रनाथ सिंह -- जानकीमंगल, पृ० ३८ ।
२- समय विनोद पत्रिका - नैनीताल १८ सितम्बर १८७६

यह इन्दरसभा, गुलबकावली और लैला मजनू का युग था। प्रयाग के तीन हिंदी प्रेमी उत्साही बालकों ने विचार किया कि शुद्ध हिन्दी में नाटक खेलना चाहिए। इस भावना से उत्प्रेरित होकर पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट, तथा पं० गोपालदत्त त्रिपाठी ने इस नाटक मंडली का संगठन किया और निश्चय किया कि रामलीला के अवसर पर नाटक अवश्य ही खेला जाए।"[1] इस संस्था के प्राण पं० माधव शुक्ल ने रामचरित मानस की कथा का आधार ग्रहण कर 'सीता-स्वयंवर नाटक' की रचना की, जिसका अभिनय सफलता एवं उत्साह के साथ प्रथम बार सम्पन्न हुआ था। सन् १९०७ तक यह मंडली सक्रिय रही और मतभेद के कारण सन् १९०८ में पं० माधव शुक्ल एवं पं० जनार्दन भट्ट ने 'हिन्दी नाट्य समिति की स्थापना की। यह मंडली विशुद्ध हिन्दी नाटकों का अभिनय करती थी। बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० मुरलीधर मिश्र, पं० दिनेश नारायण उपाध्याय, पं० लक्ष्मीनारायण नागर, प्रधानचन्द्र प्रसाद, बाबू मुद्रिका प्रसाद, बाबू भोलानाथ आदि इस मंडली के प्रमुख कलाकार थे। पं० बालकृष्ण भट्ट पं० बालकृष्ण भट्ट युवक कलाकारों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए सूत्रधार की भूमिका में रंगमंच पर उतरा करते थे। इस मण्डली के तत्वावधान में पहली बार राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' का अभिनय हुआ, जिसमें राधा-कृष्णदास स्वयं उपस्थित हुए थे। इसके अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित नागरी प्रवर्द्धिनी सभा' दशहरे के अवसर पर पं० मदनमोहन मालवीय जी के निवास पर कोई न कोई नाटक अवश्य अभिनीत करती थी। भट्ट जी के रंग-कार्य का उल्लेख करते हुए श्री शिवपूजन सहाय ने लिखा है --" आपको [पं० बाल-कृष्ण भट्ट] हिन्दी संसार के अंदर जैसा नाटक का व्यसन था, नाटक में जैसी श्रद्धा-मनोनुकूलता और दर्शनोत्कंठा थी, वह एक मुंह से नहीं कही जा सकती। जराजर्जर शरीर होने पर भी आप शुद्ध हिंदी नाटक के नवाभिनय को देखने के लिए रातरात भर जागरण किया करते थे। आपका प्रहसन [शौ अजान एक सुजान] हिन्दी संसार में बेजोड़ लासानी समझा जाता है। आप ही के अनवरत उद्योग

१- शिवपूजन सहाय रचनावली, खण्ड ३, [१९५७], पृ० ४०१।

से हिन्दी साहित्य कुर्ग प्रयाग में एक विश्वविश्रुत नाट्य संस्था खुली थी । उसमें आप भी अभिनय-कार्य संपादन कर चुके हैं और भारत-जननी दुलारे माननीय मालवीय जी को भी उक्त नाट्य समिति के अभिनय मंडल में स्थानापन्न होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। आज भी वह हिन्दी नाट्य समिति आधुनिक हिन्दी संसार के भीतर एक ही संस्था गिनी जाती है।"[1]

कानपुर रंगमंच

भारतेन्दु-मंडल के सदस्यों में पं० प्रतापनारायण मिश्र कानपुर के सांस्कृतिक नेता थे। कानपुर के लोकमानस में नाट्याभिरुचि के विकास के लिए वे सदैव यत्नशील रहे हैं। भारतेन्दु जी के नाटकों के नाट्याभिनय से कानपुर का रंग-कार्य प्रारंभ हुआ था। मिश्र जी ने ब्राह्मण में लिखा था --"अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहां के हिन्दुस्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत पंडितवर रामनारायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य का बनाया हुआ सत्य हरिश्चन्द्र और वैदिकी हिंसा खेला था। यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक के मूल आरोपक प्रभाकर जी हैं।"[2] इस नाट्य-मंडली का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। नीलदेवी, अंधेर नगरी, भारत दुर्दशा नाटकों का इस संस्था द्वारा अभिनय हुआ। राधाकृष्णदास की जीवनी लिखते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है --"कानपुर में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने जब अपने नाट्यसमाज द्वारा १५ अप्रैल, १८८२ ई० को नीलदेवी और अंधेर नगरी का अभिनय किया था, तो बड़े ही आह्लादित हुए थे और कवि वचन सुधा में पंडित प्रतापनारायण मिश्र के उद्योग की बड़ी प्रशंसा इन्होंने की थी।" यह अनुमान सत्य हो सकता है कि इस संस्था का नाम "नाट्य-समाज" रहा होगा। "मिश्र जी स्त्री स्त्री और पुरुष दोनों का अभिनय पूर्ण सफलता के साथ करते थे। पर स्त्री के पात्रों के अभिनय में अधिक दक्ष थे। कहते हैं कि एक बार इन्हें स्त्री का पार्ट करना था और उसके लिए इन्हें मूंछ मुड़वाने के लिए अपने पिता जी से आज्ञा लेनी पड़ी थी।"[3]

१- शिवपूजन सहाय रचनावली -- खंड ३, पृ० १६५।
२- डा० विजयशंकर मल्ल --पं० प्रतापनारायण मिश्र ; ग्रन्थावली:प्रथम भाग, पृ० २०५। ~~जीवन और साहित्य, पृ० ५१~~
३- सुरेशचन्द्र शुक्ल-- पं०प्रतापनारायण मिश्र:जीवन और साहित्य,पृ० १५१।

सन् १८८५ ई० में यहां 'भारत एंटरटेनमेंट क्लब' की स्थापना हुई और उपर्युक्त संस्था शिथिल हो गयी । 'भारत एंटरटेनमेंट क्लब' द्वारा उर्दू का 'अंजाम-ए-बदी' नाटक दो बार प्रस्तुत हुआ । पारसी शैली पर आधारित होने के कारण पंडित प्रतापनारायण मिश्र इस संस्था के विरोधी हो गए । इसी बीच इस संस्था के सदस्यों में आपसी वैमनस्य के कारण दो नाट्य-मंडलियों की स्थापना हुई । पहली एम०ए० क्लब और दूसरी श्री भारत मनोरंजनी सभा ।

एम०ए० क्लब द्वारा अनेक नाटक अभिनीत हुए । सन् १८८८ ई० में गोरक्षा विषयक नाटकों का अभिनय-विवरण प्राप्त हुआ है । श्री भारत मनोरंजनी सभा ने मिश्र जी का 'कलि प्रवेश' और 'हठी हमीर', पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जयनार सिंह की' तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास का 'गो संकट नाटक' खेला था । इन अभिनयों के सन्दर्भ में मिश्र जी ने ब्राह्मण में लिखा है -- 'इधर श्री भारत मनोरंजनी सभा ने २६ नवम्बर को 'हठी हमीर' और 'जयनार सिंह की' तथा २८ नवम्बर को 'कलि प्रवेश' गीतरूपक एवं गो-संकट रूपक खेला था, जिसकी प्रशंसा तो अपने मुंह मियां मिट्ठू बनना है, क्योंकि इस पत्र के सम्पादक ने भी अभिनय में भाग लिया था और दोनों नाटक भी उसी के लिखे हुए हैं ।'[1] राय देवीप्रसाद पूर्ण ने २ दिसम्बर १८९६ ई० में 'रसिक मंडल' की स्थापना की जिसने नाट्याभिनय में योग प्रदान किया । पूर्ण जी स्वयं गांव में होने वाली रामलीला के नाट्याभिनय में कोई न कोई भूमिका निर्वाह किया करते थे । इसके अलावा 'विक्रमनाट्य समिति' एवं 'विजय नाट्य समिति' के अभिनयात्मक कार्यों का विवरण भी उपलब्ध होता है । 'पुरु विक्रम' नाटक में नाटककार श्री श्री शालिग्राम ने लिखा है कि 'वेणी संहार नाटक' कानपुर में मैंने अपने नेत्रों से देखा'[2] किन्तु उन्होंने नाट्यसंस्था, रंगशाला आदि का कोई उल्लेख नहीं किया ।

१- ब्राह्मण -- खंड ४, सं० ४-५, सन् १८८७ ई० ।

२- शालिग्राम -- पुरु विक्रम नाटक -- पृ० ८ ।

बलिया रंगमंच

भारतेन्दुयुगीन बलिया भी रंगमंच के विकास में अग्रणी रहा है। `बलिया नाट्य समाज' ने सन् १८८४ ई० के नवम्बर मास में ददरी मेला के अवसर पर भारतेन्दु को आमंत्रित किया था। इस अवसर पर `सत्य हरिश्चन्द्र' और `नीलदेवी' नाटकों का अभिनय किया था। `सत्य हरिश्चन्द्र' में भारतेन्दु ने हरिश्चन्द्र की भूमिका निर्वाह की थी।

बलिया से काशी वापस आने के लगभग दो मास उपरान्त भारतेन्दु स्वर्गवासी हो गए। शोकोद्गार व्यक्त करते हुए बलिया के नाटककार पं० रविदत्त शुक्ल ने लिखा था --" हम बलिया निवासियों के हृदय पर इसका कलंक विशेषतर है क्योंकि हम लोगों का अनुराग और आग्रह देखकर बाबू साहब ने शरीर कुपित अस्वस्थ होने की अवस्था में भी अपने स्वाभाविक शील और सहज दयालुता से द्रवीभूत होकर यहां आना स्वीकार किया था और गत ददरी मेले में विराजमान होकर यहां `बलिया नाट्य समाज' को जो इस समय नया स्थापित हुआ था, बड़ी सहायता दी। सत्य हरिश्चन्द्र और नीलदेवी का अभिनय ऐसी उत्तम रीति से कराया गया कि सब देखने वाले मोहित हो गए। श्रीमान डी०टी० रोबर्टस साहब बहादुर मजिस्ट्रेट जिला और अन्यान्य साहब और मेम लोग, जो नाट्यशाला में कौतुक देखने आए थे, बड़े प्रसन्न हुए थे और बाबू साहब की बड़ी सराहना की थी। श्रीमान् राबर्ट्स साहब ने यहां तक कहा कि प्रधान अंग्रेजी के कवि शेक्सपियर के नाटक ग्रंथ भी बाबू हरिश्चन्द्र लिखित `सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की बराबरी नहीं कर सकते।"[१]

`कुंभ की यात्रा' शीर्षक लेख में बाबू गोपाल राम गहमरी ने प्रसंगवश उल्लेख किया है --"बयालीस वर्ष पहले की बात है, जब काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बलिया में सत्य हरिश्चन्द्र नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था,

---

१- पं० रविदत्त शुक्ल -- भारत जीवन, भाग-१, अंक ४६, फरवरी, १८८५।

जिसमें हिन्दी के सुलेखक, 'दु:खिनी बाला' के लेखक बाबू राधाकृष्णदास सरीखे हिन्दी लेखक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवि ने अभिनय किया था। उस समय पर्दों और सीनों का सुंदर जमाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था -- बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेन्दु ने कर दिखाया, उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गायी थी। उस समय के कलक्टर साहब की मेम ने आंसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जज साहब की मारफत भारतेन्दु जी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है -- सीन बदला जाए तो इस पर 'सत्य हरिश्चन्द्र' बने हुए भारतेन्दु ने स्वयं ओवर एक्ट किया था और दर्शक मण्डली में करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी।... पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी में नाटक स्टेज पर सुना था।"[1] यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन नाटक लोकोन्मुख हो सके हैं। इस नाट्य संस्थान द्वारा सम्पन्न नाट्याभिनय का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि उपर्युक्त अभिनय द्वारा बलिया का लोक-मानस रंगमंच के प्रति समर्पित हो गया था। इस सभा में भारतेन्दु ने जो भाषण दिया था, उसका ऐतिहासिक महत्व है। भारतेन्दु ने स्वदेश पर सरल भाषा में प्रभावशाली व्याख्यान दिया था। व्याख्यान को रोचक बनाने के लिए इतिहास की कथाएं, चुटकुले आदि का भी प्रयोग किया था। "चारों ओर दरिद्रता की आग लगी है।" उनके इस एक वाक्य से उस व्याख्यान की ध्वनि स्पष्ट है। उन्होंने कहा था --"अपनी खराबियों के मूल कारण को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई सुख की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हुए हैं। उन चोरों को वहां से पकड़-पकड़ कर लाओ। उनको बांध-बांध कर कैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहां तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे। उसी तरह

१- गोपालराम गहमरी -- दैनिक आज, २८ अप्रैल, सन् १९२७ ई०।

इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति-पथ की कांटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो । कुछ मत डरो ।"[१] स्पष्ट है कि अपनी इस विचारधारा द्वारा वे लोकचेतना को प्रबुद्ध करना चाहते थे । नाट्य-प्रदर्शन के अवसर पर जहां लोक-प्राणी का समूह हो, वहां ये विचार कितने प्रभावी रूप से चेतना का परिष्कार कर सकते हैं, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

बिहार-रंगमंच

दामोदर शास्त्री सप्रे द्वारा सन् १८७२ ई० में बिहार में रंगमंच की स्थापना हुई थी । इसके विकास में पं० केशवराम भट्ट का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । सन् १८७६ में उन्होंने 'पटना नाटक मंडली' की स्थापना की । भट्ट जी कृत 'शमशाद सौसन' नाटक का अभिनय बिहार-बन्धु प्रेस के अस्थायी रंगमंच पर १८७६ ई० में हुआ था । 'बिहार-बन्धु' ने लिखा था --"पहले पहल बिहार-बन्धु छापाखाने में यहां के सभ्य और शिक्षित रईसों ने अभिनय देख कर बड़ी संतुष्टता प्रकट की थी, बल्कि इस प्रान्त में नाटक का ख्याल उसी वक्त लोगों को हुआ था ।"[२]

भारतेन्दु युग में पटना के उपरान्त आरा के श्री जैनेन्द्र कुमार ने जो स्वयं नाटककार और अभिनेता थे, एक जैन नाटक मंडली की स्थापना की थी । धीरे-धीरे यह नाट्य-मण्डली एक सार्वजनिक नाट्य-मंडली में परिवर्तित हो गई । जैनेन्द्र कुमार कृत कलि कौतुक, प्रद्युम्न चरित्र आदि का सफलतापूर्वक अभिनय किया गया ।

बिहार के डुमरांव नरेश महाराज राधाकुमार सिंह काशी नरेशों की भांति सांस्कृतिक अभिरुचि के थे । भारतेन्दु के जीवन काल में ही सत्य हरिश्चन्द्र तथा अंधेर नगरी नाटकों का अभिनय डुमरांव दरबार में हुआ था ।

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० ४६ ।

२- बिहार बंधु -- दिसम्बर सन् १८८४ ई० ।

मध्यप्रदेश रंगमंच

बिहार की भांति ही मध्यप्रदेश भी नाट्य-चेतना से प्रभावित रहा। मध्यप्रदेश में हिंदी नाट्य परंपरा का समारम्भ भारतेन्दु काल से हुआ था। "भारतेन्दु युग में छत्तीसगढ़ में एक नाटक मंडली की स्थापना हुई थी, जिसमें रंग-मंचीय परिपाटी के विकास में यथेष्ट योगदान दिया। इस मंडली ने अनंत राम पांडे के 'कपटी मुनि' नाटक और मालिक राम त्रिवेदी के 'रामराज्य वियोग' एवं 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक को चक्षु-सुलभ बनाया। जबलपुर निवासी खिलावन लाल ने प्रेमसुंदर तथा नरसिंहपुर निवासी गणपति सिंह ने 'सत्योदय' नामक नाट्य कृतियों की सृष्टि की।"[1]

भारतेन्दु युग में अनेक स्थानों पर नाट्य-प्रस्तुति की सूचना उपलब्ध हुई है, किन्तु नाट्यसंस्थानों का विवरण अप्राप्य है। भारतेन्दु की 'नील देवी' का मंचन बलिया, आगरा, कानपुर तथा काशी में हुआ था। लखनऊ तथा बाराबंकी में भी नाट्य-संस्थाओं की स्थापना हुई थी, किन्तु उनके पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं हैं।

भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित रंगमंच ने सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र को किसी न किसी प्रकार प्रभावित किया और विद्वज्जनों का ध्यान साहित्य की इस विधा की ओर तेजस्विता के साथ आकृष्ट हुआ। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी रंगचेतना का प्रभुत्व तत्कालीन समस्त सांस्कृतिक स्थानों में हो गया था। यह रंगचेतना के विकास का प्रारम्भिक युग था अतः नाटककार और रंगकर्मी नाट्यशाला निर्माण एवं रंग-तकनीक के विकास की अपेक्षा अभिनयपक्ष की ओर अधिक सजग रहे।

भारतेन्दुयुगीन रंगमंच के विकास की इस कथा के उपरान्त यह उचित होगा कि उस युग के नाटकों में प्रयुक्त लोक रंगमंच के तत्वों का विश्लेषण किया जाए। इस विश्लेषण में हमने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि रंगमंचीय तत्वों के

१- डा० लक्ष्मीनारायण दुबे -- मध्यप्रदेश संदेश, १७ फरवरी, १९६८, पृ० ८।

प्रति भारतेन्दु युग के लेखकों की क्या धारणायें रही हैं तथा नाटकों के अन्तर्गत उनका निर्वाह किस प्रकार से हुआ है। इससे ही सुगमतापूर्वक स्पष्ट हो सकेगा कि भारतेन्दु युग का रंगमंच कितना लोकोन्मुख रहा है ?

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोक रंगमंच के तत्व

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों का अभिमत रहा है कि नाटक अभिनेय होना चाहिए। भारतेन्दु जी का `नाटक` निबन्ध पर्याप्त अभिनय संकेतों से परिपूर्ण है। यही कारण है कि "भारतेन्दु के नाटक संबंधी विचारों की अनुगूंज गुजराती के प्रसिद्ध नाटककार और नाट्याचार्य नथुराम सुंदर जी शुक्ल के `नाट्यशास्त्र` में भी मिलती है, जिसमें कई स्थलों पर भारतेन्दु कृत इस निबन्ध के उद्धरण दिए गए हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने न केवल हिन्दी क्षेत्र में वरन् हिन्दीतर क्षेत्रों में भी नाट्याचार्य के रूप में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।"[१]

भारतेन्दुयुग के नाटककारों की लोकदृष्टि

पं० शालिग्राम शास्त्री अपने नाटक `लावण्यमती सुदर्शन` में दर्शकों की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए प्रस्तावना में लिखते हैं --"नाटक रचिबो तो भलो, जब रीझैं सब लोग, इत उत मुंह तकते रहैं, आनन्द और वियोग।" पं० बदरी नारायण चौधरी `प्रेमघन` ने `भारत सौभाग्य` नाटक के उपक्रम में

१- डा० अज्ञात -- बंगला, मराठी और गुजराती के संदर्भ में हिन्दी मंच का अध्ययन, पृ० ८।

लिखा है --" जब तक अभिनय न हो नाटक से क्या फल होगा ।

पं० बालकृष्ण भट्ट के 'वेणु संहार' में सूत्रधार कहता है --"अहा ! पंडित-मंडिता यह सभा कैसी शोभा दे रही है । जैसे विकसित अरविन्द पर मधुलोलुप चंचल नागरिकों का झुंड आकर सुस्थिर हो बैठा रहे, वैसे अभिनय-रसिक ये सुजन महोदय आज यहां इकट्ठे हुए हैं तो उचित है कि गुण लोभी इन सुजनों को अपने तौर्यत्रिक वाद्य नाट्यगान से ऐसा लुभावें कि सब लोग प्रसन्न हो जांय । अच्छा, तो आज कौन से नये नाटक का अभिनय उचित होगा [थोड़ा ठहर कर याद कर] हम तो भूल ही गए थे, अच्छी याद आई, हाल ही में हिन्दी प्रदीप के सम्पादक महाशय ने एक नया नाटक तैयार कर हमें दिया है । वह इस समय के लोगों की रुचि के बहुत ही अनुकूल होगा । चलो उसी के लिए तैयार होने को अपने साथियों से कहें ।"

भट्ट जी के 'जैसा काम वैसा परिणाम' का सूत्रधार भी अभिनय से संतोष प्रदान करने की बात कहता है --"सूत्रधार [नटी से] आये ! तुम बड़ी भाग्य-वती हो जो ऐसे ऐसे प्रतिष्ठित, परम सभ्य, धनीमानी लोगों की सभा आज तुम्हारे अभिनय को देखने को एकत्र हुई है । इन्हें यदि तुम अपने गान के तान से रिझाओगी तो यथोचित सम्मान पाओगी । प्रिये ! यह मंडली प्रायः नव-शिक्षित युवा पुरुषों की है । ऐसे लोग बहुधा हास्यरस के बड़े रसिक होते हैं, इससे कोई हास्यरस प्रधान अभिनय से इन्हें तुष्ट करो ।"

भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप में विचार व्यक्त किया है कि "जो देश सभ्यता की जितनी ही अंतिम सीमा को पहुंचता है, वहां उतना ही अधिक नाटकों का प्रचार पाया जाता है ।" अतएव देश के सांस्कृतिक विकास के लिए नाट्य-रचना और प्रदर्शन की अनिवार्यता को भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने स्वीकार किया था ।

अनन्त राम पाण्डे के 'कपटी मुनि नाटक' का सूत्रधार कहता है --"आहा आज का भी समय कैसा मनोहर है । तिस पर इतने प्रिय बन्धुओं का सहर्ष समा-गम । क्यों न हो, नाटक का नाम ही ऐसा चुम्बक है कि यह एक बार बड़े से बड़े

एकान्तवासी उदासी के मन को भी खींच लेता है, फिर देश हितैषी संसारी जीवों की इतनी भीड़ हुई तो क्या आश्चर्य ।। अ ह ह, धन्य है उस सर्वशक्तिमान परात्पर परमेश्वर को कि जिसकी कृपा से अब लोगों का मनोभाव बहुत कुछ सुधर गया और भरोसा है कि यह ऐसा ही उत्तरोत्तर सुधरता ही जाएगा ।" यही विचार नाटककार ने भूमिका में व्यक्त किया है --"शिक्षित मंडली को यह भलीभांति विदित है कि नाटक, उपन्यास आदि लिखने का मुख्य उद्देश्य यह है कि उनसे लोगों का चरित्र संशोधित होकर समाज तथा देश का मंगल हो । परन्तु जितने काल में उपन्यास आदि एक प्रौढ़-बुद्धि मननशील पाठक का चित्त अपनी ~~अककर्षक~~ आकर्षण कर सकते हैं उतने वा उससे अल्पकाल में नाटक दर्शक समाज की मनोवृत्ति अनायास तदाकार करने में समर्थ हैं । अत: मेरी अल्पबुद्धि में सम्प्रति औरों की अपेक्षा नाटक अधिकतर उपयोगी जान पड़ता है ।...इसका मूल आख्यान तुलसीकृत रामायण में आबाल, वृद्ध वनिता सभी पढ़ते, सुनते तथा जानते हैं ।" ~~जानकी मंगल~~-

जानकी मंगल की भूमिका से नाटककार पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी की रंग-आन्दोलन के प्रति जागरूकता और दायित्व की चेतना का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है । "यद्यपि यह नाटक संस्कृत के बड़े बड़े नाटकों की उत्तमता और श्रेष्ठता को नहीं पहुंच सकता परन्तु उस विद्या का प्रचार और ऐसी लीला का अभिनय इस देश में आपातत: उन्मूलित हो गया, यहां तक कि लोग जानते तक नहीं कि नाटक कैसा काव्य और कौन वस्तु है और न उन्हें यही यथोचित ज्ञान है कि संस्कृत में थोड़े से नाटक जो काल की गति से शेष रह गये हैं वे कौन-कौन से परमोत्कृष्ट गुण विशिष्ट हैं इस हेतु मैंने इसका निर्माण हिंदी भाषा में किया । आशा है कि यह रसिक जनों को मनोरंजक और सर्वसाधारण लोगों को आनन्ददायक हो ।"

'कल्पवृक्ष नाटक' में लाल खड्ग बहादुर मल्ल ने स्पष्ट किया है --"इन दिनों देश की कुछ सुदशा और विद्योत्साह उसमें भी नाटकों पर रसिक जन की विशेष रुचि और पूर्वजों के चरित्र जानने की अभिलाषा देखकर नाटक बनाने का उत्साह द्वितीया की चंद्रकला के समान दिन-दिन बढ़ता जाता है । आगे

नाटककार ने लिखा है कि, "यहां के ग्रामीण मनुष्य तथा छोटे-छोटे बालक और स्त्रियां तक नाटक देखने को टिड्डिदल की तरह टूट पड़ते हैं।"

'रामाभिषेक नाटक' की भूमिका में नाटककार रामगोपाल विद्यांत ने लिखा है --"इस समय तक लखनौस्थ विद्यांत नाट्यशाला में बंगला भाषा में नाटक का अभिनय होता है, वह अन्नदेशीय महज्जनों की समझ में नहीं आता, सुतरांग उन लोगों को विशेष आनन्द प्राप्त नहीं होता, इस कारण सर्व्व-जनों के मनोरंजनार्थ नागरी भाषा में अभिनय करने के लिए इस पुस्तक का अनुवाद किया।"

'प्रयाग रामागमन' में 'प्रेमघन' जी ने नाट्यरचना और उसकी अभिनयात्मक उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है --"प्रयाग की युक्तप्रांतीय महाप्रदर्शनी में सहृदयों के मनोरंजन और उत्साहवर्द्धनार्थ स्थानिक सुप्रसिद्ध प्राचीन घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य भी दिखाना निश्चित हुआ और उसका भार नाट्यकला में परम प्रवीण प्रयाग युनिवर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुत मिस्टर आर के० सोराब जी० एम०ए० बॅरिस्टर ऐट ला को सौंपा गया।... श्री रामचन्द्र महाराज का वनयात्रा में प्रयाग आना और मुनिराज भरद्वाज का अतिथि होना, जो यहां की सर्वप्रधान घटना थी, उसके रूपक रचना के लिए मुझसे अनुरोध किया गया।.... यह ग्रंथ उक्त अवसर की लीला से कुछ बड़ा है, क्योंकि उसमें कथा के इतने प्रसार की आवश्यकता न थी, तो भी मैंने यह समझ कर कि इतना परिश्रम केवल एक उसी अर्थ अवसर के अर्थ अलम् न होकर अन्य के अर्थ भी उपयुक्त हो और सामान्य रीति से पुनः अभिनय के योग्य रहे, इससे कुछ विस्तार दिया।" सूत्रधार और नटी के माध्यम से नाटककार शिवनन्दन सहाय ने 'कृष्ण सुदामा नाटक' में कहा है --"अ हा हा! आज क्या आनंद छाया है। नाटक दर्शक जनों का सघन वृन्द आया है। इन्हीं महाशयों ने नाट्यकर्ताओं के उत्साह को बढ़ाया है। इसी से चित्त में और उमंग छाई है, बधाई है, बधाई है। अहा सुख सरसी रजनी आई पर नटखटी नटी अब तक न आई, अच्छा तो क्या हुआ आती होगी अपनी चटक मटक बनाती होगी।

[नटी कहती हुई आती है] -- नहीं आई, नई आई की धुन लगाई है, आज कौन-सी वस्तु पड़ी पाई है।" इसी प्रकार दामोदर शास्त्री सप्रे के 'बालकांड' में नटी कहती है --"मारत नवीन वस्तु में ही लोगों का अनुराग रहता है, ऐसा कुछ नियम नहीं है। हां, इतना ही मात्र अनुसंधान रखना चाहिए कि वही पुराणी वस्तु नये ढंग से दिखाई जाय।" अरण्यकाण्ड में सप्रे जी ने निर्देश दिया है कि खर, लक्ष्मण, सैन्यगण [इनकी] उक्ति या समरभाव राम की अन्तिम उक्ति के साथ होना चाहिए। लेख में कई एक विषय आगे पीछे होते हैं। परन्तु खेलने वालों को पात्र के आशय और स्वाभाविक चेष्टा पर ध्यान देकर तदनुसार लोकव्यवहार में अपरिहास्य ऐसा अभिनय करना चाहिए क्योंकि सिखलाई बुद्धि और बंधा हुआ कलेवा कहां तक काम देगा।"

'प्रेमसुंदर' नाटक का सूत्रधार कहता है -- "प्यारी यह तुम्हारा भ्रम है यह कहनावत कदाचित् किसी मूर्ख मनुष्य से तुमने सुन ली होगी, कोई बुद्धिमान मनुष्य कभी ऐसा न कहेगा॥ क्या तुमने महाभारत में यह वृत्तान्त नहीं सुना जहां यादव राजकुमारों ने वज्रनाभ के पुर में जाकर काबेर रम्भाभिसार नामक नाटक खेलना था और कुमारों को कृष्णचन्द्र जी ने नाटक खेलने की आज्ञा दी थी और फिर यदि नाटक बुरा समझा जाता तो इतने बड़े-बड़े कवि कालि-दासइत्यादिक जिनके समान गुणवान आजकल देखने में वो क्या सुनने में नहीं आते, क्यों नाटक बनाते। आजकल अंग्रेज़ लोगों ही में देख लो, जिनने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा ऐसे ऐसे कार्य किये, जो कोई २ समय सरलता से नहीं समझ पड़ते, उनने भी नाटक को बुरा न समझा, देखो शेक्सपियर के नाटक कहां-कहां खेले जाते हैं, जिनकी बड़े बड़े पंडित प्रशंसा करते हैं। इन बातों से अब तुम्हें भलीभांति विश्वास हो गया होगा कि नाटक को वही मनुष्य बुरा कहेंगे जिनकी बुद्धि में कुछ भ्रम पड़ा हो, वही मनुष्य बुरा कहेंगे, जो इसका गुण नहीं जानते, सो यह ठीक ही है जो मनुष्य जिस वस्तु का गुण नहीं जानते वे उसे बुरा कहेंगे ही।"

पं० शालिग्राम वैश्य ने `मोरध्वज` नाटक की भूमिका में लिखा है -- "इस नाटक के लिखने से मेरा यह अभिप्राय है जो हमारे प्राचीन राजे धर्म धारण करते थे -- और उस समय को इस समय से मिलाने से महान अंतर विदित होता है, अतएव इस समय वचन बन्धता, वीरता, शस्त्रविद्या, तो भारतवर्ष से सर्वत्र नष्ट हो गई, और दिन ब दिन रही सही भी नष्ट होती चली जाती है। अब आशा करता हूं कि इस नाटक को देखने से कुछ कुछ मनुष्य अपने पुरुषाओं के कर्तव्य और वचनबन्धता को स्मरण कर किञ्चिन्मात्र तो उनके लालन-पालन में कटिबद्ध होंगे तो उस समय मेरा मनोरथ और परिश्रम सफल होगा।"

`द्रौपदी वस्त्र हरण` में नाटककार रायप्रभुलाल ने लिखा है -- "पंडित ज्वाला प्रसाद जी का हिंदी में रचा हुआ `वेणी संहार` नाटक मेरे देखने में आया इस नाटक को पढ़कर मेरी यह इच्छा हुई कि पांडवों की जिन प्रतिज्ञाओं के पूर्ण होने का वृत्तान्त नारायण भट्ट कवि ने अपने इस नाटक के द्वारा वर्णन किया है उन प्रतिज्ञाओं के होने के समय का वृत्तान्त भी नाटक ही के रूप में लिखा जाए जिससे स्वदेशीयजनों को यह लाभ होगा कि वह पहले इस नाटक को पढ़ेंगे और फिर इस `वेणी संहार` नाटक को देखेंगे तो उनको सारी कथा महाभारत से भारी ग्रंथ को देखने का परिश्रम किए बिना सरलता के साथ मालूम हो जाएगी.... मैंने इस नाटक को ऐसी सरल हिंदी भाषा में लिखा है कि यदि इस नाटक का खेलने का कोई विचार करें तो इसकी भाषा सबके समझ में आवे।"

"होलिकादर्पण" नाटक में नाटककार शिवराम पांडे वैद्य ने लिखा है -- "भाइयों आज हम आपके सन्मुख यह खेल दिखाते हैं जिससे यदि आपमें कुछ लेश बुद्धि का है तो अवश्य आपको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

`सरस्वती` नाटक में पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने लिखा है -- "आजकल के साहित्याचार्यों ने इस देश के साहित्य को अंग्रेजी रीतिमय कर डाला है और जो प्राचीन ग्रंथ हैं, उन्हें ये लोग कई बेर देख चुके हैं, तुम्हें स्मरण होगा कि हम लोगों के परमाराध्य हिन्दी साहित्य के जन्मदाता माननीय प्यारे

हरिश्चन्द्र ने अन्तकी आज्ञा दी थी कि केवल हमारे ही नाटकों को खेलकर दूसरे उत्साहियों के उत्साह को भंग न करना, वरन् बीच-बीच में उन लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए उन लोगों के बनाए नाटकों का भी अभिनय अवश्य करना । अब तुम्हीं कहो आज कौन सा खेल खेला जाए ?"

भारतेन्दुयुगीन नाटकों से उद्धृत उपर्युक्त अंशों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि उस युग के नाटककारों की लोकदृष्टि अभिनय के सन्दर्भ में अत्यन्त प्रखर और व्यापक रही है । वस्तुत: रंगमंचीय तत्वों का प्रयोग उनके लिए लोकदृष्टि के अनुसार स्वाभाविक हो गया था ।

भारतेन्दुयुगीन रंगमंचीय लोक-उपकरण

रंगमंच की सम्पूर्ण रंग-तकनीक को ध्यान में रखते हुए उसके निम्नलिखित तत्व निर्धारित किये जा सकते हैं :--

१- रंगशाला की व्यवस्था
२- पात्रों का अभिनय
३- ध्वनि, संगीत एवं गीत व्यवस्था
४- प्रकाश व्यवस्था

अतएव भारतेन्दुयुगीन नाटक साहित्य में अभिव्यक्त रंगमंचीय लोक-उपकरणों का विश्लेषण उपर्युक्त क्रम में से करना उचित होगा ।

१- रंगशाला की व्यवस्था

भारतेन्दुयुगीन नाटकों के लोकरंगमंचीय उपकरणों के विवेचन में सर्वप्रथम रंगशाला के स्वरूप का प्रश्न उपस्थित होता है । रंगशाला के संबंध में जो विवरण 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध हैं, उनसे तीन प्रकार क तीन प्रकार की रंग-

शालाओं का उल्लेख मिलता है । प्रथम प्रकार की रंगशाला विकृष्ट कहलाती थी, वह अंडाकार और लम्बाई में एक सौ आठ हाथ होती थी । ये नाट्य-शालाएं देवताओं के अधिकृत थीं । दूसरे प्रकार की रंगशाला चौसठ हाथ लम्बी और बत्तीस हाथ चौड़ी होती थीं, किन्तु थी यह भी अण्डाकार । यह रंगशाला नरेशों की थी । तृतीय प्रकार की नाट्यशाला समभुज त्रिकोणाकार होती थीं । इसकी प्रत्येक भुजा बत्तीस हाथ लम्बी थी । यही गृहस्थ नागरिकों की रंगशाला थी ।

भारतेन्दु-युग में तीसरे प्रकार की रंगशाला का स्वरूप उपलब्ध होता है, जो कि लोकमानस का प्रतिनिधित्व करती है । प्राचीन युग में दर्शकों का नाट्यशाला में स्थानग्रहण करने का क्रम-निर्धारण आगे से पीछे की ओर रहता था । सबसे आगे ब्राह्मण और सबसे पीछे शूद्र बैठते थे । भारतेन्दु युग में इस प्रकार की व्यवस्था का कहीं भी उल्लेख नहीं है । अत: स्पष्ट है कि इस युग के नाटककार जाति एवं रंग के भेदभाव को नहीं मानते थे । सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति उनका समभाव था । अभी तक के प्राप्य विवरणों में काशी का 'नाच-घर' और इलाहाबाद का 'रेलवे थियेटर' ही भारतेन्दु-युगीन रंगशाला कही जा सकती हैं । रंगमंच के विकास में इन रंगशालाओं का ऐतिहासिक महत्व रहा है ।

प्राय: यह देखा गया है कि जब किसी भाषा के साहित्य में नाट्य-रचना अधिक हुई है, तो उसका प्रमुख कारण नाटककार के समक्ष उपस्थित रंगशाला ही रही है । उसी के स्वरूप का अध्ययन करके नाटककारों ने नाट्य-रचना की है क्योंकि नाटक और रंगमंच का तात्कालिक सम्बन्ध है । नाट्य-रचना के समय नाटककार के मानस में प्रचलित रंगमंच के स्वरूप का बिम्ब सहज रूप से उपस्थित रहता है ।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों के समक्ष लोक-नाट्य परंपरा का एक विस्तृत रूप था, जिसका रंगमंच क्षेत्र-विशेष की विशिष्टताओं के अनुसार सादा और

सजीव होता है, यही कारण है कि इस युग का रंगमंच सादगी से परिपूर्ण है। रंगशाला के आगे का थोड़ा भाग अभिनेताओं के अधिकार में रहता था तथा सज्जागृह के दोनों दरवाजे इस भाग से संबंधित थे, जहां से पात्र आ-जा सकते थे, इसे नेपथ्य कहते हैं। "अलंकारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेषभूषणादि से साजते हैं। जब रंगभूमि में आकाशवाणी, देववाणी अथवा और कोई मानुषीवाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य में ही गाई या कही जाती है।"[1] शेष नीचे का भाग दर्शकों के लिए था, जहां लोग दरी और कुर्सी पर आसीन होते थे। 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका विद्यार्थी सम्मिलित' पत्रिका में पटिया का उल्लेख बैठने के उपकरणों में किया गया है।[2] इसी प्रकार 'हरिश्चंद्र मैग्जीन' में कुरसियां और बेंचों का उल्लेख प्राप्त होता है।

इन रंगशालाओं के अतिरिक्त रासलीला के रंगमंच की भांति खुली रंग-शालाएं भी भारतेन्दु-युग में प्रचुर रूप में विद्यमान रही हैं।" यह रंगमंच सर्वथा आडम्बरहीन होता है। वह खुला हुआ होता है और कुछ सीमित साधनों द्वारा ही सज्जित कर लिया जाता है। वस्तुत: लोक-रंगमंच जन-साधारण के दैनिक जीवन की प्रक्रिया का अंग रहा है और सामाजिक उद्देश्यों को प्रकट करने का एक माध्यम भी रहा है। इसी लिए इसमें जीवन है, स्थायित्व है और है अमरता के गुण। इससे सर्वथा भिन्न नागरिक रंगमंच कलात्मक एवं सप्रयास अभिव्यक्त रहा है। नागरिक, जनसाहित्य के मध्य संतुलन न रहने पर एक कृत्रिम और दूसरा कुरुचिपूर्ण हो जाता अवश्य है। भारतेन्दु युग में नागरिक साहित्य तथा लोकसाहित्य पर्याप्त निकट थे तथा साहित्य की दिशाओं को निश्चित करने वाले प्रमुख साहित्यकार दोनों में समन्वय करना चाहते थे।"[3]

१- रुद्र कार्तिकेय -- भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७८३।

२- हरिश्चन्द्र चंद्रिका मोहन चंद्रिका विद्यार्थी सम्मिलित, खण्ड ७, संख्या १२, पृ० १५।

३- डा० शान्तिप्रकाश वर्मा -- प्रतापनारायण मिश्र की हिंदी गद्य को देन, पृ० ३५१।

'परम प्रबोध विधु' नाटक के संकेतों से स्पष्ट है कि उसके रंगमंच का पृष्ठ कनात का था, जो नेपथ्य को रंगभूमि से अलग करता था और उसमें संस्कृत नाट्यशैली के अनुसार रंग-सूचनाओं के लिए नेपथ्य का उपयोग किया गया था। बलिया में ददरी मेले के अवसर पर भारतेन्दु की उपस्थिति में खुली रंगशाला में बजाज के कपड़े तानकर नाटकों का अभिनय किया गया था। इसी प्रकार लोक-जीवन की भावात्मक एकता से ओत-प्रोत एक करने वाले स्थानीय मेलों के अवसर पर नाट्याभिनय खुली रंगशालाओं पर होता रहा होगा। इस रंगमंच परंपरा द्वारा नाटककार अपने उद्देश्यों को लोकसमाज तक सम्प्रेषित करना चाहते थे।

रंगशाला के स्वरूप विवेचन के उपरान्त रंगशाला की व्यवस्था की जानकारी के लिए 'नाटक' निबंध सहायक है। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा है --"किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन या उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामान्तरण अन्त: पटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन उपवन किम्वा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है किन्तु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंत:पटी परिवर्तन द्वारा वन-उपवन पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर जानपद वर्ग के अपवादभय से श्रीराम कृत सीता परिहार के समय उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रसाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता, इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति [सीन] के परिवर्तन द्वारा पूर्वकाल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे ही 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक के अभिनय के समय सूत्रधार एक ही स्थान में रहकर परदा बदले बिना कभी कभी तपोवन और कभी दुष्यन्त का राजप्रासाद दिखला सकेगा। 'मुद्राराक्षस' में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलयकेतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कहकर उसी अंक में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा।

श्मशान से चंदनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़कर पुकारता है कि भीतर कौन है ? अमात्य चाणक्य से कहो इत्यादि । अर्थात् पूर्व के दोनों दृश्य बदलकर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलायी पड़े । इसी प्रकार रास-शैली पर आधारित नाटकों में नायक-नायिका कहते हैं --"अहा देखो । यह फुलवारी का नहीं कैसी सुंदर है ।..." ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है ।"

भारतेन्दु युग में पर्दों का प्रयोग अत्यधिक हुआ है । नाटक को प्रेक्षणीय बनाने के लिए यह सुगम और लोकचित्त के अनुकूल साधन है । `सती चंद्रावली` नाटक में नाटककार ने संकेत किया है कि "इस दृश्य में भीतर का पर्दा भारतवर्ष के चित्र का अथवा जंगल का होना चाहिए ।" `देशदशा नाटक` में निर्देश है कि "रास्ता पर्दे पर दिखाना होगा ।" `सरस्वती` नाटक में नाटककार ने पटाक्षेप का कार्य व्यवस्थापकों की अभिरुचि एवं उपलब्ध साधनों पर निर्धारित किया है । `विद्याविनोद` नाटक की पाद-टिप्पणी में नाटककार ने निर्देश दिया है --"स्टेज पर एक छोटा सा परदा बना दो । भीतर की ओर विद्या, कमला और तड़िता के संग और बाहर की ओर डाँगल पैन खड़े होवें ।" इसी प्रकार अनेक नाटकों में पर्दे की व्यवस्था का समुचित निर्देश किया गया है ।

जवनिका या बाह्यपटी [ड्राप सीन] के सन्दर्भ में `नाटक` प्रबंध में भारतेन्दु ने लिखा है --"कार्य अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है, उसका नाम जवनिका है । जब रंगशाला में चित्रपट परिवर्तन का प्रयोजन होता है, उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है ।..... इस परदे पर कोई सुंदर मनोहर नदी, पर्वत, नगर इत्यादि का दृश्य वा किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है ।"[१] बाह्य-पटी के उपयोग का पर्याप्त संकेत भारतेन्दु युग के नाटककारों ने दिया है ।

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७५६ ।

रंगमंचीय योजना में दृश्य-योजना विशिष्ट महत्व रखती है। नाटककार गर्भांक के आरम्भ में रंग-संकेत देता है कि मंच पर क्या-क्या वस्तु होंगी और पात्र किस प्रकार अपना स्थान ग्रहण करेंगे :--

(अ) "राजाधिराज महाराज रघुराज श्री दशरथ सुवर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं। दासगण कर-कमलों में चमर व्यंजन लिए इधर उधर डुला रहे हैं। एक ओर समस्त मंत्री यथासनासीन हैं एक ओर पुरजन महाजनों की मंडली सुशोभित है और एक ओर सकलशास्त्र मंडित पंडित व कवियों के वृन्द आनंद से आसीन हैं, सम्पूर्ण राज समाज के साज एकत्र हैं कि इतने में चतुर्वेविद विप्रगण सभा में उपस्थित हो राजमुकुट मणि को आशीर्वाद देते हैं।"[1]

(ब) "श्यामसुंदर का घर - सुंदर अकेली बैठी है। कुंतला छिपी खड़ी है। जबरखां और दूसरा चपरासी ये दोनों मिलकर वल्लभ और सुंदर को घसीटते हैं दोनों हल्ला मचाते हैं।"[2]

(स) "स्फटिक के चौतरे पर जड़ाऊ सिंहासन बिछा है और उसके दोनों ओर रत्नों की दो चौकियों पर दाहिनी ओर बृहस्पति और बाईं ओर कार्तिकेय विराजमान हैं तथा दोनों पट्टी कतार बांधे हुए देवतागण हाथीदांत की कुर्सियों पर बैठे हैं।"[3]

(द) "मूर्ति के भीतर स्टेज के नीचे एक पात्र बैठा हो वही देवी का पाठ दोनों स्वर से करेगा तथा वह स्टेज के ऊपर न होकर अदृश्य में होवेगा।..... देवी की खोखली विशाल मूर्ति धरी है। सामने एक जटाधारी योगी बैठा है।"[4]

१- बंदीदीन दीक्षित -- सीता स्वयंवर नाटक, पृ० ३।

२- खिलावन लाल -- प्रेमसुंदर, पृ० ५।

३- किशोरीलाल गोस्वामी -- नाट्य संभव, पृ० ६७।

४- गोपालराम गहमरी -- देशदशा नाटक, पृ० ३८।

दृश्य-योजना के विवरण में नाटककारों ने औपन्यासिक-शैली का भी प्रयोग किया है। जैसे :--

(अ) मुहम्मद बिन कासिम जो खलीफा उमर की उस फौज का सेनापति है जो हिन्दुस्तान को फ़ते के लिए भेजी गयी थी। सिंध देश के राजा को पराजित करके सिंध नदी के किनारे लश्कर उतारे हुए है। व्यतीत रात को फतह के जश्न हुए थे और लश्कर में तरह-तरह की खुशियां मनाई गई थीं। प्रात:काल सेनापति खेमे से निकलकर दरिया के किनारे दो-चार ~~स्रस्~~ सरदारों को साथ लिए ठंडी हवा खा रहा है।[1]

(ब) उपकारमल बंदगी करके जाते हैं। मरोसदास ~~प्रम्~~ प्रात:काल बहुत सफाई से अरजी लिखकर अपनी सरटीफिकेट रुमाल में लपेट इम्मामा बांध बूट चढ़ा कुबड़ी सम्हाल हनुमान जी को मनाते हुए साहब के बंगले की तरफ चले। बंगले के फाटक पर पहुंच कर एक अंग्रेज को बाग की रौंस पर टहलते हुए देख कर मरोसदास, खुदाबख्श मिस्त्री से जो पास ही कुएं पर पानी भर रहा था पूंछने लगे।[2]

(स) भूपाल के समीप गुन्नौर के बाहर मैदान में विजयी खां की सेना के डेरे पड़े हैं। अपने डेरे के अंदर संध्या के समय पलंग पर लेटा हुआ मुसलमान प्रधान पेचवान लगाए हुक्का पी रहा है। इतने में दरबारी फाखरा खुश-मिजाज खां बड़े अदब से सलाम करके सामने बैठता है।[3]

(द) पृथ्वीराज की सेना चक्रव्यूह रचकर खड़ी है। युद्ध का बाजा बज रहा है। रणभूमि में जगह-जगह रुधिर, मांस मज्जा बिखर रहे हैं। जहां-तहां अनेक

१- काशीनाथ खत्री -- सिंधुदेश की राजकुमारियां, पृ० ७।
२- बालकृष्ण भट्ट -- निकृष्ट नौकरी, पृ० ११।
३- काशीनाथ खत्री -- गुन्नौर की रानी, पृ० २७।

तब अनेक घायल और मृतक शरीर दृष्टि आते हैं। शस्त्र और भूषण वस्त्रादि रुधिर से भरे पड़े हैं। मांस-भक्षी जीव इधर-उधर फिरते हैं। जयचंद की तरफ से मुनिवेशधारी केवर कंठीर बहुत से बैरागी साथ लेकर शंख बजाता आता है। और पृथ्वीराज की तरफ से आततायी शंखध्वनि करता है.... दोनों ने धनुष-बाण चढ़ा लिये। रणवाद्य के साथ नेपथ्य में सिंदूरा राग आरंभ होती है और ताल के ऊपर पंतरा बदल कर धनुषबाण घुमाते हुए दोनों वीर घुमते हैं। बारंबार शंखनाद होता है।[1]

इसी प्रकार के अनेक औपन्यासिक रंग-संकेत भारतेन्दुयुगीन नाटकों में प्राप्त होते हैं, जिससे कथा-प्रवाह के विकास में नाटककार को सहायता मिलती है।

२- पात्रों का अभिनय

भारतेन्दु-युग के अधिकांश नाटककार या तो स्वयं रंगकर्मी थे या किसी न किसी रूप में रंग कार्य से घनिष्ठता से सम्बद्ध रहे हैं, फलत: उनके नाटकों में सहज अभिनेयता है।

पात्रों का रंगमंच पर आवागमन और कथाप्रवाह के अनुकूल विविध अंगों से विविध भावों का प्रकाशन और कथोपकथन द्वारा स्पष्टीकरण ही अभिनय का प्रमुख अंग है। भारतेन्दु ने अपने युग के नाटककारों को अभिनय के प्रति सजग करते हुए लिखा है --- "नाटक रचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य-प्रकृति की आलोचना करनी चाहिए। जो अनालोचित मानव प्रकृति है, उनके द्वारा मानव जाति के अन्तर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, यह कभी संभव नहीं है, इसी कारण से कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और शेक्सपियर के 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से

१- श्रीनिवासदास -- संयोगिता स्वयंवर, पृ० १६।

से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करें तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रंथ अध्ययन करें, परंतु सभ्य में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करें। यह न करने से मानव-प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक प्रवृत्ति जिस प्रकार अदृश्य है, उन लोगों के हृदय भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होता है।"[१] तभी अभिनय की दृष्टि से नाटक रंगमंच पर सफलता प्राप्त करता है।

भारतेन्दु ने भारतीय नाट्य परम्परा के अनुरूप अभिनय को चार प्रभेदों में निरूपित किया है :--

(अ) आंगिकाभिनय

(ब) वाचिकाभिनय

(स) आहार्याभिनय

(द) सात्विकाभिनय

(अ) आंगिकाभिनय

केवल अंगभंगी द्वारा जो अभिनय कार्य-साधन किया जाता है, जिस प्रकार सती नाटक में नन्दी का अभिनय है। सती ने शिव की निन्दा श्रवण कर देह त्याग दी। यह सुनकर महावीर नन्दी ने जब त्रिशूल हाथ में लेकर के रंगस्थल में प्रवेश किया, तब केवल आंगिक भाव द्वारा ही क्रोध प्रदर्शित होता

१-

है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में चित्रगुप्त और यमराज, राजा पुरोहित, मंत्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव के प्रति क्रोध व्यक्त करते हैं, जिस समय वे क्रोध व्यक्त करते हैं, उनका चेहरा तमतमा उठता है। "चित्रगुप्त (क्रोध से) -- अरे दुष्ट यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहां के न्यायकर्ताओं की तरह जंगल से पकड़कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते। जहां तू आया है और जो गति तेरी है, वही घूस लेने वाले की भी होगी।"[1]

'नहुष' नाटक में अभिनयात्मक संकेत 'भृकुटी चढ़ाय कैं' कोष्ठक में विद्यमान है। इस नाटक के षष्ठ अंक में विस्तृत रंग संकेत उपलब्ध हैं। "इमि कहिकै निकल्यो तब पट अंतर कौं खोलिकै निकरी सिंगार किए इंद्रानी और बैठी। इंद्रानी गुरू कौं प्रनाम करि कै पति की ओर देखिकै नीचो सिर करिकै रहि गई। इंद्र ने इंद्रानी की ओर देखिकै नैनन में नीर भरे। इतने में प्रविसे सूरज, चंद्रमा, अग्नि, कुबेर, बरुण, जम, कार्तिकेय, कंचन-बरन, विश्वकर्मा, चित्रांगद समेत। सबन नें गुरू कौं प्रनाम कियौ, फेरि इंद्र कौं प्रनाम कियौ। गुरू नें सबन कौ आसिर्वाद दियौ, इंद्र सबन कौ कंठलगाय कै मिले। तब गुरू कंचन बरन कौ सुनाय कै।"[2]

'कपटी मुनि नाटक' में आंगिकाभिनय के पर्याप्त संकेत हैं। यथा -- फिर घूमकर, कुछ ठहरकर, इधर-उधर घूमकर, नेपथ्य की ओर देख कर, सविस्मय, चारों ओर देखकर, हंसकर, फिर दूसरी ओर देख कर, थोड़ी देर ठहरकर, स्मरण करके, कान के पास धीरे से, नेपथ्य के भीतर जा और लौट कर, याद करके, लोगों को दिखलाकर, चौंककर, सक्रोध, हाथजोड़ कर, सुन कर सोद्वेग आदि। संवाद रूप में प्रयोग इस प्रकार है --"सूत्रधार -- पर हम कहते हैं, नहीं ऐसा वचन कुछ दुर्लभ

१- रुद्र कार्तिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० २५।

२- गिरिधरदास -- नहुष नाटक, पृ० ६३।

है। [घूमकर] उत्तम नाटक - जिसको उत्तम नाटक कहते हैं, वही ऐसा बकता है, जिसके मुंह से सदैव मीठा और उपदेशपूर्ण वचन बर्हिगत होता है। [फिर घूम कर]।... राजा [शोक से] -- हां मेरे राज्य में गो माता को दु:ख है। धिक्कार मेरा राज्य धिक्कार, मेरा शासन धिक्कार, मेरा जीवन [कोतवाल तथा मंत्री से] उपद्रवों का यही कारण है, कल प्रात:काल उसी ओर आखेट की तैयारी करो। हाय! मेरे शुभ राज्य में अब ऐसा घोर उत्पात, कल व्याघ्र सिंहों का निर्मूल न किया तो मैं क्या क्षत्रिय, क्या राजा और क्या मेरा पराक्रम। चलो तैयारी करो राजकाज बंद। [इतना कहकर शीघ्रता से जाया चाहता है और परदा गिरता है][1]

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में अनेक स्थलों पर आंगिक अभिनय द्वारा पात्र मनोगत भावों को तीव्रता प्रदान करने में सक्षम रहे हैं। यथा --

विश्वामित्र [क्रोध से] -- सच है रे पाप पाखंड मिथ्यादान वीर! तू क्यों न मुझे 'राज प्रतिग्रह परांगमुख' कहेगा क्योंकि तैने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान दी है, ठहर ठहर देख इस झूठ का कैसा फल भोगता है, हा! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा शाप देने को उठती है, वैसे ही जाति स्मरण के संस्कार से बाईं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है [अत्यंत क्रोध से लंबी सांस लेकर और बांह उठाकर] अरे ब्रह्मा! सम्हाल अपनी सृष्टि को नहीं तो परम तेजपुंज दीर्घ तपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जाएगा, अथवा संसार के नाश से ही क्या? ब्रह्मा का तो गर्व मैंने उसी दिन चूर्ण किया जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूंगा जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।"[2]

१- अनन्तराम पांडे -- कपटी मुनि नाटक, पृ० ६३।

२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ३७०।

'अंजना सुंदरी नाटक' में अंजना का क्रोध आंगिक चेष्टाओं को व्यक्त करता है --

अंजना [क्रोधित होकर मिश्रकेशी से] -- अरी दुष्टनी ! तू मेरे सन्मुख क्यों खड़ी है ? निकल जा [वसंतमाला से] पिताजी से यह भी कह दीजो कि मिश्रकेशी को मेरे निकट न आने दें । [माथे से हाथ लगाकर रोती हुई] हाय ! मेरा कैसा भाग्य है, पति ने अभी से तिरस्कार कर दिया । चलूं अपनी माता से तो यह वृत्तान्त कह दूं ।'[1]

'द्रौपदी वस्त्र हरण' में दुःशासन के रंगस्थल पर प्रवेश होते ही अभिनयात्मक स्वरूप साकार हो जाता है --

'[क्रोध से भरा हुआ दुःशासन का प्रवेश]

दुःशासन [द्रौपदी से] -- हे पांचाली, हे कृष्णा ! तुझको राजा दुर्योधन ने जुए में जीता है और धर्म से पाया है अब तू लज्जा छोड़कर उनके पास चल और कौरवों की सेवा कर ॥ [यह सुनकर द्रौपदी बहुत दुःखी होकर अपने मुंह को अपने हाथों से ढांपकर रोती हुई राजा धृतराष्ट्र के रनवास की तरफ को भागती है और दुःशासन उसके पीछे गरजता हुआ दौड़ता है और द्रौपदी के बालों को पकड़ के खैंचता है और उसको खैंचता हुआ सभा की तरफ को ले चलता है पीछे-पीछे मदनमोहिनी रोती हुई दौड़ती है] ।'[2]

[ब] वाचिकाभिनय

केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय कार्य होता है, उसे वाचिकाभिनय कहते हैं । 'नीलदेवी' नाटक में पागल रंगमंच पर आता है, वह उच्चरित

1- कन्हैयालाल -- अंजना सुंदरी नाटक, पृ० २३ ।

2- रामप्रभुलाल -- द्रौपदी वस्त्र हरण नाटक, पृ० २१ ।

वाक्य-विन्यास द्वारा अभिनय को गति प्रदान करता है :--

"मार मार मार - काट काट काट काट - ले ले ले - ऐंवी ईवी वीवी तुरक तुरक तुरक -- अरे आया आया आया - भागो भागो भागो [दौड़ता है] मार मार मार -- और मार दे मार -- जाय न जाय न -- दुष्ट चांडाल गोभक्षी जवन -- हमारा सत्यानाश कर डाला..... [मियां के पास जाकर अट्टहास करके] रावण का साला, दुर्योधन का भाई अमरूद के पेड़ को फेरी बनाता है - अच्छा अच्छा - नहीं नहीं तैने तो हमको उस दिन मारा था न। हां! हां!! यही है यही - जाने न पावे मार मार।"[1]

'अंधेर नगरी' के बाजार दृश्य में अनेक दुकानदार अपनी दुकान की विशिष्टता को व्यक्त करते हैं :--

हलवाई कहता है --" जलेबियां गरमागरम। ले सेब इमरती, लड्डू, गुलाबजामुन, खुरमा, बुंदिया, बरफी, समोसा, पेड़ा, कचौड़ी, दालमोठ, पकौड़ी, घेवर गुपचुप। हलुआ हलुआ ले मोहनभोग। मोयनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूरे का लड्डू जो खाय सो भी पछताय जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तिस कौम हैं भाई। जैसे कलकत्ते के विलसन मन्दिर के भितरिए, वैसे अंधेर नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा लै खाजा। टके सेर खाजा।"[2]

'सुलोचना सती' में सरदार पागल-सा होकर कहता है --

"शान्त, शान्त देवी, शान्त देवी शान्त। नहीं, नहीं, शर्म, शर्म, कहां, कहां। हम बेशर्मों को शर्म कहां। नाक रहते मैला खाने वालों

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० १२७।

२- वही, पृ० १६६।

को शर्म कहां । गुप्त या प्रत्यक्ष रूप से गौ हत्या करने वालों को शर्म कहां । चमड़े के व्यवसाय में रुपये लटाने वाले, विधर्मी.... अपने देवी-देवताओं तथा दीन-दुःखी भाइयों को भूखे मारकर गैरों को पीर मजार गिरजनों ताजियों को पूजने वालों को शर्म कहां ! देवि तुम्हारी कल्पना सत्य है ।"[1]

'वाह' और 'हा' से प्रारम्भ वाक्य में स्वतः एक प्रवाह-सा आ जाता है । 'वाह' कहते ही विदित हो जाता है कि किसी को उलाहना देने का उपक्रम उपस्थित हो रहा है । 'चंद्रावली-नाटिका' में इसकी अभिव्यक्ति हुई है :--

"वाह प्यारे ! वाह ! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण है और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा से इसका भेद कोई नहीं जानता, जाने कैसे ? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं, जिसने जो समझा है उसने वैसा ही मान रखा है ।"[2]

'हा' की अभिव्यक्ति से तो 'चंद्रावली नाटिका' परिपूर्ण है, किन्तु 'हा' का प्रयोग (शोक एवं विस्मय रूप में) 'भारत दुर्दशा' में अत्यधिक प्रभावकारी है --

" हा ! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं । सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकता है । हा दैव ? तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था वह आज जूते में टांका उधार लगवाता है । कल जो हाथी पर सवार फिरता था आज नंगे पाव बन-बन की धूल उड़ाते फिरते हैं ।"[3]

१- बलदेव जी अग्रहरि -- सुलोचना सती, पृ० ९७ ।

२- रुद्र का शिष्य -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ५६ ।

३- वही, पृ० ४५६ ।

'अंजना-सुंदरी' नाटक में अंजना का संवाद अभिनय-कार्य को पूर्णता प्रदान करता है --

अंजना [आंखों में आंसू भरकर ठंडी सांसे लेती हुई] अरी सखी ! तू क्या नहीं जानती, हाय मेरा कैसा भाग्य है, अब कहां जाऊं और किसे अपना दुःख कहूं धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का, माता-पिता न जाने क्या सोचते होंगे वे अवश्य यही कहते होंगे कि कुछ हमारी कन्या में ही दूषण है जो उसका पति ग्रहण नहीं करता ।.... मनुष्य चाहे कैसी ही दीन अवस्था में रहे परन्तु आपस की मित्रता से चित्त प्रसन्न हो तो वह दुःख दुःख नहीं भासता ।"[1]

'यौवन-योगिनी' में पृथ्वीराज और मायावती के संवादों में जो तीव्रता है, वह वातावरण को वाचिकाभिनय द्वारा प्रभावी बनाता है । "पृथ्वीराज ! ऐ क्या ? महम्मद के हाथ ! क्या पापिष्ट का इतना साहस । ओ हो ! पापी यवन हिन्दू सती का सत भ्रष्ट करेगा ? कभी नहीं, हमारे हाथ में तलवार और शरीर में प्राण रहते हमारी भिखारिनी का सत नाशेगा । ना, कभी ना । क्या तुम जानते हो उस दुष्ट ने मायावती को कहां रखा है या वह पापात्मा कहां है ?"[2]

[स] आहार्याभिनय

वेशभूषणादि निष्पाद का नाम आहार्याभिनय है । 'सत्य हरिश्चन्द्र' में चोबदार या मुसाहिब जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं, तो उनको कुछ बात नहीं करनी पड़ती । केवल आहार्याभिनय द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करना पड़ता है ।

भारतेन्दु ने 'चंद्रावली-नाटिका' में "वनदेवी के लिए हरे कपड़े, पत्ते का

१- कन्हैयालाल -- अंजना सुंदरी नाटक, पृ० १७ ।
२- गोपालराम गहमरी -- यौवन योगिनी, पृ० १२२ ।

किरीट और फूलों की माला, संध्या के लिए गहरा नारंगी कपड़ा और वर्षा के लिए रंग सांवला तथा लाल कपड़े पहिनने का निर्देश दिया है। जोगिन के गेरुआ सारी गहना सब जनाना पहिने, रंग सांवला। सिंदूर का लंबा टीका बेड़ा। बाल खुले हुए। हाथ में सरंगी लिए हुए। नेत्र लाल। अत्यन्त सुंदर। जब जब गावैंगी सरंगी बजाकर गावैंगी।" 'भारत दुर्दशा' में भारतपात्र फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग, निर्लज्जता-पात्रा जांघिया, सिर खुला, ऊंची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता-पड़ता है कि अंग खुले, सिर खुला, सानगियों का-सा वेष, भारत दुर्दैव पात्र क्रूर, आधा क्रिस्तानी, आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार, मदिरा-पात्रा के लिए सांवली सी स्त्री, लाल कपड़ा, सोने का गहना, पैर में घुंघरू आदि का निर्देश पाद-टिप्पणी में उपलब्ध होता है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में नटी के लिए महाराष्ट्री वेष कमर पर पेटी कसे वा मर्दाना कपड़ा पहिने, पर जेवर सब जनाने; राजा इन्द्र के लिए जामा, क्रीट, कुण्डल और कपड़े पहने हुए, हाथ में वज्र [कई फल का छोटा भाल] लिए हुए, द्वारपार के लिए छज्जेदार पगड़ी, चमकन, घेरदार पाजामा पहने, कमरबंद कसे और हाथ में बाला लिए हुए, नारद भगवान के लिए धोती की लांग कसे, गाती बांधे, सिर से पांव तक चंदन का खौर दिए, पैर में घुंघरू, सिर के बाल छुटे और हाथ में बीन लिए हुए, विश्वामित्र के लिए धोती, डाढ़ी, जटा, हाथों में पवित्री और कमंडल, खड़ाऊं पर चढ़े, रानी शैव्या लहंगा, साड़ी सब जनाना गहिना, बंदी-बैना, ब्राह्मण - धोती, उपरना, सिर पर चुंदी वा सिर भर बाल, डाढ़ी, हाथों में पवित्री, तिलक, खड़ाऊं, हरिश्चन्द्र सफेद वा केसरी जामा, पैंजामा, कमर बंद मर्दाना सब गहना, सिर पर किरीट वा म पगड़ी, सिर पेंचपुरा, हाथ में तलवार, दुशाला वा कोई चमकता रूमाल ओढ़े, चांडाल के भेष में धर्म और सत्य काछा कछे, काला रंग, लाल नेत्र, सिर पर छोटे-छोटे घुंघराले बाल और ख शरीर नंगा, बातों से मतवालापन फलकता हुआ, कापालिक के वेष में धर्म गेरुआ वस्त्र का काछा कछे, गेरुवा कफनी पहिने, सिर

के बाल खोले, सेंदुर का बड़ा चंद्र दिए, नंगी तलवार, गले में लटकती हुई, एक हाथ में खप्पड़ जलता हुआ, दूसरे हाथ में चिमटा, अंग में भभूत पोते, नशे से आंख लाल, लाल फूल की माला और बड़े बड़े हड्डी के आभूषण पहिने अवतरित हुए हैं।

भारतेन्दु जी पात्रों के वेश-विन्यास एवं रूप-सज्जा के प्रति पूर्णत: सजग रहे हैं, क्योंकि वे "अनेक वर्गों, जातियों और पेशे के लोगों को उनकी प्रधान विशेषताओं के साथ रंगमंच पर"[1] उपस्थित करना चाहते थे। इस प्रयास में उन्हें सफलता मिली है।

नागरी-विलाप में देवनागरी एक उज्ज्वल वस्त्र पहने, एक छड़ी से टेकती हुई आती है। यौवन-योगिनी की पाद-टिप्पणी में निर्देश किया गया है कि "सिपाहियों का वेष मुसलमानी और वस्त्र काले, सब के हाथ में तलवार होवे।" 'महारास' नाटक की पाद-टिप्पणी में सूत्रधार, नटी, कृष्ण और गोपियों के वस्त्र-सज्ज का संकेत स्पष्ट रूप से किया गया है।

"सूत्रधार -- हरे व नीले साटन का कामदार जांधिया पहने पटुके के दोनों छोर लटकाए अंग में किसी अच्छे कपड़े का चुस्त कुर्ता और गले में माला आदि धारण किए। नटी -- सब स्त्रियों के गहने, सुन्दर-सुन्दर महाराष्ट्री पुरुषों के कपड़े पहने हुए। कृष्णचन्द्र -- सिर पर मुकुट, कानों में नग जटित कुंडल, गले में वैजयन्ती, मुक्ता और फलों की माला, पीताम्बर की काछनी और कुछ मर्दाने गहने, हाथ में छड़ी और कमरबंद में बांसुरी खोंसे हुए। गोपियां-- हरित, पीत, नील, अरुण और स्वेतधारी घांघरादि और उत्तम २ वस्त्र उलटे पलटे और सिर के भूषण, गले में, कान के सिर पर, हाथ के पैर में और पैर के बाजू आदि।

'महामोह-विद्रावण' में 'मण्डित मुण्ड, महास्थूलकाय, एक लंगोटा लगाए,

---

१- डॉ० बच्चन सिंह - हिन्दी नाटक - पृ० ३१

नंग-धिड़ंग, आन्तर-बाह्य दोनों नेत्रों से चौपट महामोह का और काशीस्थ पंडितों का सा वेष, अति सम्य और भव्यमूर्ति महामोह को भगाने वाला रूप विद्रावण का है।

[द] सात्विकाभिनय

स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कंप और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विकाभिनय है। `नहुष नाटक` में इंद्रानी सजल नयन करिके कहती है --"सुनियत नहुष नरेस को इन्द्रासन गुरु दीन, यासों औरहुं दःख बढ़त, दिन-दिन काया छीन।" इसके अतिरिक्त निर्देश है --"इमि कहिके नाचन लाग्यौं, तब गुरु मुसकायकै, इतनी सेनि इंद्रानि सहमि कै मुरछित होय गिरि था परी। तब जयंत उठि कै शीतल जल छिरक्यौं, कामाकुल होकर, चिन्ता सहित, सानन्द आदि।

बलिया के ददरी मेले में भारतेंदु ने स्वयं `सत्य हरिश्चन्द्र` में हरिश्चन्द्र की भूमिका का निर्वाह किया था। शैव्या के श्मशान विलाप में दर्शकों को करुणा से ओतप्रोत कर दिया था। तत्कालीन कलेक्टर की पत्नी ने आंसुओं से भरा रूमाल निचोड़ कर आग्रह किया कि यह दृश्य धैर्य छुड़ा रहा है, तब भारतेन्दुजी को `ओवर एक्ट` करना पड़ा था। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में सात्विकाभिनय सर्जक रूप से हुआ है, जिसने लोक-चेतना को सहज रूप से प्रभावित कर लिया था।

सात्विकाभिनय के प्रचुर संकेत भारतेंदु युगीन नाटकों में मिलते हैं। यथा-सस्मित, लजाकर आप ही आप, आंख बंद किए ही, चंद्रावली के कान के पास, कुछ ठहरकर, और ऊंचे सुर से, चंद्रावली की पीठ पर हाथ फेरती है, वनदेवी हाथ छुड़ाकर एक ओर वर्षा संध्या दूसरी ओर वृन्दा के पास हट जाती है, घबड़ानी सी होकर, इधर उधर देखती है, उन्माद से, अर्द्धोन्माद की भांति, कभी आंसू भरकर, कभी भाव बताकर, कभी बेसुर ताल ही, कभी

ठीक-ठीक, कभी टूटी आवाज़ से पागल की भांति गाती है, घबड़ाकर दोनों हाथ छुड़ाकर आंसू भर के, हंसकर विदुया से, प्रसन्नता से, विदुया का हाथ अपने हाथ में लेकर, विदुया आंखों से निषेध करती है, इत्यादि।

'कल्पवृक्ष नाटक' में सत्यभामा के संवाद में सात्विक अभिनय का रूप इस प्रकार है। सत्यभामा [करकमल से आंसू पोंछती हुई] मैं आपको भलीभांति जानती हूं।..... अधिक कहने-कहलाने से क्या लाभ है? बस अपने मन से समझ जाइए। पर मुख्य तो यह है कि आपनो सोना खोट भयो तो दोष कहा है परखनिहार को।" 'द्रौपदी वस्त्र हरण' में नेपथ्य में कलकल की ध्वनि होती है और द्रौपदी कहती है -- द्रौपदी [सुनकर और घबड़ाकर] यह क्या कलकल बाहर हो रहा है, मदनमोहिनी। इस समय सारे स्वप्न बुरे हो रहे हैं मैं समझती हूं मेरा अंतकाल आ पहुंचा है, हाय! मैं अपने प्यारे स्वामियों और अपने प्यारे पुत्रों से भेंट कर न पाऊंगी अथवा नहीं, हे सखी! मैं अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा के हेतु प्राण अवश्य त्यागूंगी, हे मदनमोहिनी! मैं तुमसे भी विदा होती हूं।"

'प्रभास मिलन' नाटक में कृष्ण रोदन करते हुए कहते हैं -- "मैया! बताओ तो मैया कहां गई? अभी तो मैया ने गोपाल कहकर पुकारा था!! पुकारते पुकारते मैया किधर को चली गई मइया। तुम्हारे हाथ जोड़ूं मेरी मैया को मुझे दिखाओ। [इधर उधर देखकर] मैया! मैया!! कहां गई मैया!!! एक बार आओ मां! बहुत दिन से तुम्हारे चरणकमलों का दर्शन नहीं किया है।"

'वेणु संहार' नाटक में अश्वत्थामा दाहिनी ओर देखकर आंसू भरकर कहते हैं -- मातुल! मातुल! जो शूरवीरों की भयंकर समर खुजली के निवारणकर्ता और जिस सेनापति के साथ आज तुम रणभूमि में आए, जिनके संग तुम्हारे नित्य चित्र-परिहास होते थे, वह तुम्हारी भगिनी के श्लाघकर्ता आज कहां गए?"

'महारास' नाटक में गोपियों की सुन्दरता देखकर, अत्यन्त प्रसन्न और विभ्रम दशा देखकर, कुछ मुस्कुराते हुए, आप ही आप, कुछ हर्ष से पृथ्वी की

और देखकर, डाह से, ठंडी सांस लेकर, आंख भौं से सैन बताकर आदि संकेत उपलब्ध हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है --

"कृष्ण [प्रीतिपूर्वक प्रगट] वनिताओं ! मेरा अपराध क्षमा करो ! मैं तुम्हारे केवल प्रेम का दृढ़ नेत्र देखता था, सो देख चुका आओ मेरे निकट बैठो [अति हर्ष से सबको गले से लगाकर और राधा की बांह पकड़कर] प्यारी क्षमा करो, आओ बैठो [श्रीकृष्णचंद्र के साथ बीच में राधा और सब गोपियां बैठ गई।"

'प्रयाग रामागमन' नाटक में निषाद विह्वल होकर कहता है -- हे दीन-बंधु। महाराज ई काव कहिए ? कालि रात जौन-जौन कुछ मोरे गरीब के कीन भा, खाए पिए के समान किहयौं, तौनो सब नहीं लीन्ह, उरसै पानी पी कै महाराज पर रहे। मैं कहौं कह्यौं कि इहौं राज महराजे के है, ऐसेहं रहैं। सुना उहौं नाही मानिन। अब कहथैं कि तुमसे बिदा लेहत है। भला, मैं साथ छोड़ि हौं ? मैं साथै चलिहौं। कहथैं कि उपकार ? अरे मैं काव किहयौं है ? जौ मेरे चामे के पनहूं महराज पहिरैं, तबौ मैं दे के तौं अपनी करनी से उरिन होऊं। महराजै की छांह में तो मैं राजकरत हौं।"[1]

'सीता स्वयंबर नाटक' में राजा दशरथ की भाव-विह्वलता की प्रस्तुति सजीव रूप में हुई है। "राजा दशरथ [कुछ सावधान हो आप ही] यह वार्ता तो इनकी मान लेने योग्य है। मैं जानता हूं कि रामचन्द्र सब रानियों को प्राण समान प्रिय हैं। तो इस अवस्था में रामचंद्र के देने का सम्मत कोई रानी न देगी [प्रगट विश्वामित्र] अच्छा स्वामी ! यह तो आपने सुष्ठ सम्मान कहा अब मैं फिर मंदिर जाकर रानियों से पूछता हूं जैसा वे कहेंगी वैसा करूंगा [राजा चल देते हैं और पर्दा गिर जाता है]।[2]

१- बदरी नारायण 'प्रेमघन' -- प्रयाग रामागमन, पृ० ११।
२- चंदीदीन दीक्षित -- सीता स्वयंबर नाटक, पृ० ५ व ७।

`अभिमन्यु नाटक` में भीमसेन का संवाद है -- "अर्जुन ! मैं अपने आपको बड़ा दृढ़ प्रतिज्ञ समझता था, परंतु आज मेरा भी पाषाण हृदय विदीर्ण हो गया, यह क्या ? हरि ! यह क्या ? तुम जिसके सहायक उसकी यह गति ? [शव को पृथ्वी पर रखकर वत्स ! व्यूह में तेरा अनुसरण नहीं कर सके थे, परन्तु आज अनुसरण करेंगे, पुत्र मैं तुझे न भूला हूं] तेरे लिए जितना अपमान सहा, भगवान ही जानता है, हा अभिमन्यु !" [1] इसी प्रकार `मोरध्वज` नाटक में कुसुमावती विरह-वेदना का स्पष्टीकरण करती है। सात्विक अभिनय का प्रश्रय ग्रहण करती है। "कुसुमावती -- अरी ! जिसके हृदय में विरह की आग भड़कती है, वही उस ज्वाला की जलन को जानता है। दूसरा उस प्रबल लपट को अनुभव नहीं कर सकता, तुम मेरे सन्मुख से हट जाओ, मुझे अपने जी की भास निकालने लेने दो। हा नाथ ! [आप ही आप] हे नाथ ! मुझसे कोई अपराध भी तो ऐसा नहीं हुआ, जो मेरा त्यागन किया। मैं विनयपूर्वक बारम्बार आपकी प्रार्थना करती हूं, मुझे दर्शन के क्यों नहीं देते। अब मेरा अपराध क्षमा कर मुझे दासी को दर्शन दीजे। नहीं तो मैं तुम्हारी सेवा करने के कारण परलोक में ही आनकर सुभागिनी बनूं हूंगी। तुम बिन संसार शून्य दृष्टि आने लगा। मैं अकेले किसके आश्रय से यहां रहूंगी। हे कलावती ! हे चंद्रकला ! अब मैं क्या करूं ?" [2]

अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियमों के अन्तर्गत भारतेन्दु ने `नाटक` प्रबंध में उल्लेख किया है कि --"नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वा पर आबद्ध होनी चाहिए कि जब तक अंतिम अंक न पढ़े किम्वा न देखे, यह न प्रकट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा।.... शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। `आप ही आप` ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है किंतु तब भी इतना

१- शालिग्राम वैश्य -- अभिमन्यु नाटक, पृ० १७७।

२- ,, -- मोरध्वज नाटक, पृ० ११६।

उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें ।..... यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी किंतु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देख कर कहने पड़ेंगे । इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें, किन्तु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं । ...... नृत्य की भांति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख नेत्र भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं । स्वर-भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिए ।..... यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने या जाने के समय जहां तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें । किन्तु इस नियम का इतना आग्रह न करें कि वह जहां पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहां भी न दिखलावें ।... पात्रगण आपस में वार्ता जो करें उनको कवि निरे काव्य की भांति ग्रथित न करें । परस्पर वार्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं । किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्य-रचना नाटक के उपयोगी नहीं होती ।"[१]

भारतेन्दु की अभिनयात्मक-जागरूकता का उपर्युक्त विवरण प्रमाण रूप में ग्रहण किया गया है । भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने भारतेन्दु की दिशा-निर्देश का पूर्णरूपेण अवलम्बन लिया है । पं० बालकृष्ण भट्ट, श्रीमती लाली, खड्ग बहादुर मल्ल, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि अनेक नाटककारों के नाटकों में अभिनय सम्बन्धी उपर्युक्त संकेत पर्याप्त मात्रा में पल्लवित हुए हैं तथा उनसे भारतेन्दुयुगीन रंगमंच को लोकमत संचय करने में पर्याप्त सफलता मिली ।

३- ध्वनि, संगीत एवं गीत व्यवस्था

नाटकों में ध्वनि-संयोजना

आज ध्वनिविस्तारक यंत्र सुलभ हैं, अत: रंगमंच पर प्रस्तुत पात्रों के संवाद एवं गीत-संगीत को सुगमतापूर्वक दर्शकों तक प्रेषणीय किया जाता है, किन्तु भारतेन्दु-युग में यह सुविधा उपलब्ध न थी ।

१- रूद्र काशिकेय -- भारतेंदु ग्रंथावली, पृ० ७७४ ।

ध्वनि-प्रभाव दर्शकों तक गृहीत हों, इसके लिए नाट्य-प्रस्तुति में पात्र तीव्र गति से संवाद बोलते थे। नाटककारों ने यथास्थान धीमें एवं तीव्र गति से संवाद प्रस्तुत करने के संकेत दिये हैं।

भारतेन्दु युग के नाट्य-साहित्य में दीर्घ-कथन का प्रयोग रंगमंचीय व्यवस्था के समुचित संयोजक की दृष्टि से ही किया गया है। ये कथन पात्रगण तीव्रता से उच्चरित करते थे ताकि दर्शकों तक उनका सम्प्रेषण सुस्पष्ट रूप से हो सके। नाटककार इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि यदि अधिकांश कथन लघु हुए तो पात्रगण परस्पर संवाद करते समय अभिनयात्मकता की ओर ही अधिक ध्यान रखेंगे। इस प्रकार नाटककार के विचार दर्शकों तक सम्यक् रूप से नहीं पहुंच सकेंगे। ध्वनि-विस्तारक यंत्र के अन्वेषण के पूर्व तक नाटकों में दीर्घ कथन का प्रयोग निरन्तर होता रहा है और लोकमानस को उद्वेलित करने की दृष्टि से इस प्रणाली का अनुकरण आवश्यक भी था।

'सीता स्वयंवर नाटक' में आकाशवाणी होती है --

"हे मुनि। सिद्ध!! देवताओं!!! भय न करो तुम्हारे अर्थ मनुष्य रूप धर अपने अंशों सहित परम उदार सूर्यवंश में अवतार लूंगा। कश्यप और अदिति ने बड़ी तपस्या की है, उनको मैंने प्रथम से ही वर दे रखा है। वे दशरथ कौशल्या रूप से अयोध्यापुरी में नरराज हो विद्यमान हैं तिन रघुकुल श्रेष्ठ के घर में जाकर अवतार लेंगे। लक्ष्मी सहित अवतार लेकर नारद के सब वचन सत्य करूंगा और सम्पूर्ण भूमि का भार हरूंगा। अब तुम सब देवता निडर हो।"

प्रारम्भ में संबोधन में तीव्रता से ध्यानाकर्षण और फिर आकाशवाणी का उच्चारण स्वर-योजना पर आधारित रहा कि कथन दर्शक तक प्रेषणीय हो जाए। इसी प्रकार विद्यासुंदर नाटक में विद्या करुण स्वर में कहती है--

"प्रभो। आज तुमने हमारी क्या दशा कर रखी है। आज हमारा सब सुख, हमारी सब सम्पत्ति, हमारी सब सामर्थ्य, हमारी प्यारी

सखियां किस काम आती हैं ? हरे ! ईश्वर !!! तूने क्या ऐसे ऐसे कठोर दुःख हमारे लिए संग्रह करके रखे थे ? प्यारी कन्दला ! क्या तुमने भी जन्म का साथ छोड़ दिया ? हा प्यारी, तड़िता ! क्या तूने भी मुझे भुला दिया ? हा ! क्या करूं ? कहां जाऊं ? किससे क्या कहूं ? यहां तो चारों ओर वृक्ष और झंखाड़ जंगलों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।"

ध्वनि-तीव्रता संबंधी ये संवाद मोरध्वज नाटक, सत्यवती नाटक, सावित्री नाटक, माधवानल कामकंदला नाटक, मदनमंजरी नाटक, न्याय सभा नाटक, ~~रुक्मिणी परिणय नाटक~~, नागरी विलाप नाटक, अभिमन्यु नाटक, गंगोत्री नाटक, रुक्मिणी परिणय ~~नाटक~~ आदि नाटकों में प्रयुक्त किए गए हैं ।

नाटकों में संगीत-संयोजना

भारतेन्दु युग के नाटककारों ने संगीत व्यवस्था की ओर ध्यान दिया है । रासलीला और रामलीला के मंच की भांति ही रंगमंच पर सामने ही संगीतकार स्थान ग्रहण करते थे । भारतेन्दु [नाट्य-रूपक] में श्री 'भानु' ने निर्देश दिया है कि 'संगीतज्ञ पुराने रंगमंच की भांति सामने न बैठकर एक ओर नेपथ्य में बैठेंगे और वहीं से संगीत तथा ध्वनि प्रभाव देंगे ।' इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युगीन रंगमंच पर संगीतकार सामने ही बैठते थे । भारतेन्दु ने सामूहिक वाद्य-प्रयोग की ओर 'नाटक' प्रबंध में विचार व्यक्त किया है । "जब एक विषय समाप्त होगा, जवनिका पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे, तब तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना शुष्क हो जाता है । जहां बहुत स्वर मिलकर कोई वाद्य बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं । इससे नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है । जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजे व भैरवी आदि सबेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजे वह रात के राग की होनी चाहिए ।"[1] नाट्य-प्रस्तुति में इस निर्देश का समुचित

१- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७५८ ।

पालन किया गया है। `संयोगिता स्वयंवर नाटक` में तूर्यनाद एवं शंखध्वनि का उल्लेख मिलता है। `रामलीला नाटक` में नाटककार कहता है कि "झापसीन होते ही मंगलवाद्य बजना चाहिए।" आगे एक स्थल पर निर्देश दिया है कि बाण न छोड़कर कर्णवेधक शब्द होने चाहिए, ताकि बाण छूटने का शब्द मिल जाए।"

`वैशवशा नाटक` में ध्वनि-संयोजन की दृष्टि से नेपथ्य में सीटी बजाने, घंटा मारने एवं धमधम और गरगराहट की ध्वनि का उल्लेख है। `जानकी मंगल नाटक` में कोष्ठक में बाजा बजने की ओर संकेत किया गया है। "रामचन्द्र चारों ओर देखते हैं और धनुष उठा लेते हैं, चढ़ाके तोड़ डालते हैं, बड़ा स शब्द मचता है, जै जै मचता है, पुष्प की वृष्टि होती है और बाजा बजता है। `जानकी मंगल` के प्रथम अभिनय [४ अप्रैल १८६८] का समाचार लंदन के इंडियन मेल एंड मंथली रजिस्टर [७ मई १८६८] में प्रकाशित हुआ था, जिसमें मनोरंजन एवं नाट्य-प्रस्तुति को प्रभावी बनाने के लिए मध्यान्तरण में देशी संगीत का देशी बाजों द्वारा होने का उल्लेख किया गया है।[१] अम्बिकादत्त व्यास ने `गोसंकट नाटक` में नेपथ्य में डुगडुगी बजने का संकेत दिया है। `प्रेमजोगिनी` के प्रथम अंक में घंटी, घंटे और घुंघरू की सम्मिलित ध्वनि से मंदिर का वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त शंखध्वनि अनेक स्थलों पर होती है। भारत दुर्दशा के अंक ४ में अंधकार-पात्र के प्रवेश के समय निर्देश किया गया है कि आंधी आने की भांति शब्द सुनाई पड़ता है। `अभिमन्यु नाटक` में नक्कारा मेघगर्जन का शब्द हो, इसका उल्लेख है। प्रस्तावना के आरंभ में संगीत निर्देश दिया गया है कि `नेपथ्य में शंख का शब्द सुनाई पड़ रहा है, कभी-कभी बीच में गम्भीर स्वर से रणसिंह का घोर नाद होने लगता है, बांसुरी के स्वर से

१- " A native band of music attended the entertainment and played during the intervals of the play."

[श्री शरद नागर, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त]

मिले हुए गायन, लोग वियोग के रसीले पद गा रहे हैं और वीणा मृदंगादि अनेक प्रकार के यंत्र बज रहे हैं। 'सती प्रताप नाटक' में जहां-जहां घंटी बजेगी, इसका उल्लेख नाटककार ने किया है। 'दुर्लभ बंधु' नाटक में प्रथम दृश्य के समाप्त होने पर तुरही बजने का उल्लेख है। चंद्रावली के चौथे अंक में जोगिनी के लिए निर्देश है कि जब जब गावैगी सारंगी बजाकर गावैगी 'भारत दुर्दशा नाटक' में मदिरा-पात्रा के पैर में घुंघरू होने का नाटककार ने संकेत किया है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्य युगीन नाटककारों ने ~~संकेत किया है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्ययुगीन नाटककारों ने~~ लोक में व्याप्त वाद्य-यंत्रों, शंख, तुरही, घंटी, डुगडुगी, बांसुरी, घुंघरू, सारंगी, मृदंग आदि का प्रचुरता से प्रयोग किया है। साहित्य-साधना के साथ भारतेन्दु संगीत विद्या के विकास के लिए प्रयत्नशील रहे, इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है -- "बाद्य, नृत्य और गाना यह तीनों वस्तु जिसमें हों, उसकी संगीत संज्ञा है। इस काल में हिन्दुस्तान में संगीत शास्त्र जानने वालों का कुछ आदर नहीं और लोग इस विद्या से लज्जा करते हैं परंतु ये ही इस देश के दुर्दिन का उदाहरण हैं, अब भी भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह विद्या बच गई है, वहां बहुत अच्छी है, जैसा कि ईस्वी १८७१ में व्यंकटगिरि के संग एक नर्तकी शारदा नाम की आई थी। निसंदेह वह इस विद्या में बहुत प्रवीण थी। नृत्त और नृत्य दोनों में अपूर्व काम करती थी। नृत्य और नृत्त में भेद यह है कि जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें लय मुख्य हो वह नृत्य कहलाता है। भाव, नेत्र, भौंह, मुख, हाथ और स्वर से प्रगट होते हैं। लय भी हाथ पैर, गले और भौं से होती है। नृत्य के शास्त्रों में १०८ भेद लिखे हैं और लागडांट, डरप, तिरप, हस्तक भेद इत्यादि इसके अंग हैं, जिसमें केवल घुंघरू बजाने के सात मुख्य भेद हैं। लास्य और ताण्डव इसके दो मुख्य भेद हैं और यह नृत्त एक से लेकर बहुत से मनुष्यों से भी होता है। .... हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह विद्या संबंधी संगीत शास्त्र हमलोगों में फैले और यह प्रचलित मूर्खतामय लज्जा का कारण विषय रूपी संगीत हमारे शत्रुओं को मिले।"[1]

१- रुद्र कार्तिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७५६।

भारतेन्दु संगीत में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। जो लोग पैसा देकर पक्का गाना सुनते थे उनसे उन्होंने लोक समाज में प्रचलित गाने सुनने की अपील की थी -- "जो लोग धनिक हैं वह यह नियम करें कि जो गुणी इनको गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे।"[1]

नाटकों में लोकगीतों का प्रयोग

नाट्य-साहित्य में गीतों का प्रयोग रंग तकनीक के एक अवयव के रूप में स्वीकारा गया है। भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोकगीतों का प्रचुर रूप में प्रयोग हुआ है। इस युग के साहित्यकार कवि तथा नाटककार दोनों रूपों में साहित्य-सेवा करते रहे हैं। इस समय तक लोकमानस परम्परागत काव्य-प्रवाह से पूर्णत: मुक्त नहीं हो पाया था, अत: उसकी संवेदनशीलता को जागृत करने के लिए गद्यांश के साथ ही संवादों में काव्यांशों का प्रयोग नाटककारों ने सहज प्रवृत्ति के रूप में किया है। काव्यांशों द्वारा वे लोकमानस के समक्ष नाटक के पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण करने में सक्षम रहे हैं।

गीतों का प्रयोग भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने दो रूपों में किया है। एक तो उन्होंने लोकप्रचलित कवियों के गीतों को यथास्थान उद्धृत किया है और दूसरे कथाप्रवाह के अनुकूल उन्होंने गीतों की रचना स्वयं की है। इस प्रकार के गीतों की रचना लोकप्रचलित गीत-शैलियों के आधार पर हुई है।

'सीता स्वयंवर नाटक' में केशव और तुलसी के काव्यांशों को सीताहरण प्रसंग की पूर्णता प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया है।[2] 'उद्धव लीला नाटक'

१- डा० रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु युग, पृ० ५।
२- बंदीदीन दीक्षित -- सीता स्वयंवर नाटक, पृ० ७, ८, ११, १५।

में सूर, परमानन्ददास, भारतेन्दु आदि कवियों के पद उद्धृत किए गए हैं।[1] 'संगीत शाकुंतल' में दुष्यंत के विरह चित्रण में मेघदूत के श्लोक को सरस काव्य में रूपान्तरित किया गया है। यथा--

> "शिला में गेरू से कुपित ललना तोहि लिख धरौं
> जो लौं चाहूं तन अपन तेरे पगन में
> चले तालौं आंसू दृगन मग रोकै उमगि के
> नहीं धाता धाती चहत हम याहू विधि मिले।[2]

'अथ रामचरित नाटक' में रामचरित मानस की चौपाइयां यथावत् प्रयुक्त की गई हैं।[3] 'शकुंतला नवीन नाटक' में नाटककार ने भूमिका में लिखा है --"राग-रागिनी में व लावनी में व शेरखानी में महाभारत और श्रीमद्-भागवत व वाल्मीकि रामायण का सार निकालकर और-और प्राचीन पुराणों का मतलब लेकर और कालिदास कवीश्वर शकुन्तला नाटक की छाया लेकर यह नाटक तैयार किया गया।" नाटककार ने कवित्त, दोहा, लोकछंद एवं काव्य रूप होली, बारहमासा आदि का प्रयोग किया है।[4] 'माधवानल कामकंदला' में सेनापति, देव भिखारी आदि के दोहे, कवित्त, सवैये पदों का प्रयोग किया गया है। यथा--

दोहा -- मारि जारि करि भस्म पिय राखहुं हृदय मंझार।
जब जी चाहे तब मिला, अंग पैम रसढार॥[5]

सोरठा-- करत मुई को जाप, जियत कठिन दुख देत हो।
अब पिय कौन शराप, तज समीप बिछुरन करत॥[6]

१- गोवर्धन गोसाईं -- उद्धवलीला नाटक, पृ० ६, ११, १५, १७।

२- प्रतापनारायण मिश्र -- संगीत शाकुंतल, पृ० २७।
३- जय गोविन्द मालवीय -- अथ रामचरित नाटक, प्रारंभ से समापन तक।
४- लाला गणेशप्रसाद साहब -- शकुंतला नवीन नाटक, पृ० ७, ११, १५, १९।

५- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० १३।

६- वही, पृ० १७।

साथ ही बारहमासा लोक काव्य रूप का भी प्रयोग किया है ।

"आषाढ़ मास आ लगा.... सावन में मिलकर सब नार ....
भादों में मेघ अति बरसै मेरा जी तरसै....आ गया महीना
क्वार.... आदि ।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लगभग सभी नाटकों में गीतों का प्रयोग हुआ है ।
'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में पीओ रे भाई' लोक धुन की टेक पर गीत
लिखा गया है --

रामरस पीओ रे भाई, जो पीए सो अमर होय जाई ।
चौके भीतर मुरदा पाके जबैं नहाय के सेन जनम जर जाई ।

अरे जो बकरी पत्ती खात है ताकी काढ़ी खाल ।
अरे जे नर बकरी खात है तिनको कौन हवाल ॥
रामरस पीओ रे भाई[2]

'कुन्दकली नाटक' में दोहा, सोरठा, कुंडलियां, कवित्त आदि मात्रिक
छंदों का प्रयोग किया गया है । ये छंद लोकछंद कहे गए हैं । "संस्कृत के आभि-
जात्य काव्यों की रचना के लिए वार्णिक छंदों का व्यवहार बहुत अधिक मात्रा
में किया गया है और उच्च कोटि के काव्यों में बहुत अधिक मात्रा में किया
गया है । और उच्च कोटि के काव्यों में इनका स्थान सर्वोपरि है । इसके
विपरीत जाति छंद जो प्रकृति से मात्रिक एवं संगीत प्रधान हैं, लोकभाषाओं
के छंद हैं, इसकी परंपरा लौकिक रही है ।[3] कुंदकली नाटक में इन लोकछंदों
के प्रयोग से नाटक लोकोन्मुखता ग्रहण कर सके हैं । यथा --

दोहा -- निष्फल श्रम सब खोयबो काग जुगाय कपूर ।
वर्णक न वाणी त्यागि है, रहैं क्रूर के क्रूर ॥

१- शालिग्राम -- माधवानल कामकंदला, पृ० ४६ ।
२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० १६ ।
३- ए०बी० कीथ -- ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१८ ।

अधिक प्रीति सुवकारिए, स्वर्णासिन बैठार ।
आसन पं डुगि हैं अवशि काढ़िं चौवहिं मार ॥[1]

सोरठा -- जब-जब निरखैं तीय, तब-तब क्षुधा बढ़ावहीं ।
तप-क्षय होवत जीय, कहु विचित्र विपरीत गति ॥[2]

कुंडलिया - मोती पायो कहुं परयो मिल्ल अनाड़ी जाय ।
गुंजाकी फल जान के पूरी माल बनाय ॥
पूरी माल बनाय, हाय मुक्ता गुन खोयो ।
स्वर्णजटिटता त्याग मूर्खकर नीच कहायो ॥
उच्चकुलन को हार सुन्दरिन रूप करोती ।
देख गुनन की हान-मान तज रोवै मोती ॥[3]

'सांगीत रूप बसंत' में दोहा और चौबोला में ही संवाद प्रस्तुत किए गए हैं । यथा--

अजी बजा हमारा ढोल, शहर की खूब करो तईयारी जी ।
चन्द्रसेन राजा जी की अब आती अधिक सवारी जी ।
प्यारे जी ज्वारी चोर छिनार शहर के पकड़े जायें ।
डाकू और बदकार कि रहजन फांसी पायें ।
इनसाफ जानकर होता है आराम जमाना पाता है ।
जो काम बुरे करता है, उसको राजा सजा दिलाता है ।[4]

'कल्पवृक्ष नाटक' में दोहा, सोरठा, सवैया का प्रयोग किया गया है । कु ठुमरी काव्य-रूप में लोकगीत प्रस्तुत किया गया है । यथा --

---

१- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा -- कुन्दकली नाटक, पृ० ६ ।
२- वही, पृ० १६ ।
३- वही, पृ० १७ ।
४- लाल गुलाब सिंह -- सांगीत रूप बसंत, पृ० १७ ।

पिया सों मिलन चली जाति गुजरिया ।
हिय हुलसावति राति उजरिया ॥
कारी डरारी रैन बीति गई ।
निसरि गई दई मारी बदरिया ॥
बैरिन सासु ननद घर नाहीं ।
निरमय भई अब प्यारे की अटरिया ॥[१]

'अंजना सुंदरी नाटक' में भी ठुमरी से कथा-प्रवाह के अनुकूल वातावरण निर्मित किया गया है —

आई बसंत नव पल्लव निकसे, आम्रकली भई बिकसतरी ।
कोकिल शब्द सुनाय रसीले, देख मोर भये हरषतरी ।
अरुण फूले टेसू के फूले, मदन दिखाई रंगतरी ।
घर घर गान करें सब सखियां, गहकर बीन अरु बरबतरी ।
मंगल मोद छयो चहुं दिशि, मैं, अंग अंग भये पुलकतरी ।[२]

'रणधीर और प्रेममोहिनी' में लोक-गायन शैली में अनेक गीत प्रस्तुत किए गए हैं ।

देख्यो प्रेम को पंथ जुदो ही
जाने प्रीति रीति रस चाख्यों, ता बिन मावत कोई,
दीपक की छवि लख पतंगे, पंख आपनो खोई,
बेधत मधुप काठ पर छिन बस कमल न छेदत सोई,
जाकी प्रीत लगी काहूं सों, याको जानत वोई ॥[३]

+ + + +

१- राजा बहादुर मल्ल -- कल्पवृक्ष नाटक, पृ० ४ ।

२- कन्हैयालाल -- अंजना सुंदरी नाटक, पृ० १३ ।

३- श्रीनिवास दास -- रणधीर प्रेममोहिनी, पृ० २१ ।

पंडितन को जै सीखे भागवत ज्ञान गीता,
श्रोता हेत साध्यो सार वेदन को बांचनो ।
कवि के काजै सीखे पिंगल पुरान छंद,
दोहा गाई चौपाई कवित्त न को सांचनो ।
कलाउन्त काजै भजन बारहमासी सीख लीनै,
आप मुख गावै राग रागिनी न रावैना ।
दैव के काजै राजा इतने कसब सिखे,
अमर रही है एक ताता थेई नावनो ॥[1]

+ + +

दांत न थे जब दूध दियो अब दांत दिये कहा अन्न न दैहै,
जो जल में थल में पंछी, पशु की सुधि लेत यु तेरी हु लैहै ।
काहे को सोच करै मन मूरख सोच करै कछु हाथ न ऐहै,
जानकूं देत अजानकूं देत जहान को देत सो तो कुछु दै है ।[2]

"सत्यवती नाटक" में बधाई गीत प्रस्तुत किया गया है --

"सखी मिल गावो री आज बधाई,
पुलकित अंग उमंग चहूं दिशि गर्जत गगन दुहाई ।
प्रेम झड़ी बर्षत मन हुलसत हर्षत सब बन राई ॥
सखी मिल गावो री आज बधाई ॥[3]

इसी प्रकार भजन भी प्रस्तुत किया गया है --

"जगत सब झूठा है जंजाल, माया रैन का स्वपना ।
भाई, बंधु, कुटुंब, कबीला, दो दिन के साथी ॥[4]

१- श्रीनिवासदास -- रणधीर प्रेममोहिनी, पृ० २७ ।
२- वही, पृ० ३५ ।
३- छगनलाल कासलीवाल -- सत्यवती नाटक, पृ० २३ ।
४- वही, पृ० २७ ।

'सज्जाद सम्बुल' नाटक में प्रस्तुत दोहों में मध्यकालीन भक्तिधारा का रूप समाहित है --

"करै बुराई सुख चहै, कैसे पावे कोय ?
बोये पेड़ बबूल का, आम कहां से होय ?"[1]

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने युगीन समस्याओं के प्रति लोकमानस को गीतों के माध्यम से सचेत करने का प्रयोग किया था। 'वीर वामा नाटक' का पात्र वीर सिंह कहता है --

"नाश किया भारत को बहुविध, बहुविध ताहि सतायो
आगम अंत ग्रंथ बहु नासे, धनकहिं धूरि मिलायो
नासे आनित सुभगधाम निष्कंटक तिनहिं लूट्यो
बलकरि धर्म भ्रष्ट तेहि कीन्हों ऐसी कीन्ह ढिठाई
पतित सतीत्व कीन्ह बहु अबला मुख सों नहिं कहि जाई
व्यसनाश्रित इन्द्रिय लोलुप हो चहुं दिश ऊधम उठाई
दुसह दुःख दीन्हें लोगनको सब विधि पतित कराई।"[2]

'भारत सौभाग्य' में भारत की अधोमुखी स्थिति का चित्रण किया गया है --

"भारत विषय भोग को प्यारो।
पाइ संग अंगरेजि को अब ह्वै गया अधिक दुलारो। भारत० ॥
अतर सेवती अरु गुलाब के अब नाहीं या को भावत।
भांति भांति लवे राउर सोसी लादिजहाज मंगावत। भारत०॥
बीना छाड़ि बजाइ पयानो उमंगत ताहि माहि।
दूध मलाई तजि चखि बिसकुट, गस्त तिया की बांही। भारत० ॥

1- केशवराम भट्ट -- सज्जाद सम्बुल, पृ० २६।
2- बैजनाथ -- वीरवामा नाटक, दृश्य ८।

लाखन खेल तमाशा यानें इंग्लैंड ते मंगाये ।

सुकवि बैठ अब सोच करत तुम लखत हमैं बौराए ।भार०।[१]

'भारत दुर्दशा नाटक' में भारत-भाग्य भारतवासियों को जगाने का यत्न करता है --

'जागो जागो रे भाई ।

सोवत निसि बैस गंवाई । जागो जागो रे भाई ॥

निसि की कौन कहे दिन बीत्यौ काल राति चलि आई ।

देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस जाई ॥

निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।

अबहूं चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई ।

फिर पछिताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुंह बाई ।

जागो जागो रे भाई ॥'[२]

'अंधेर नगरी' में चूर्ण बेचने वालों की लोकगायन शैली में समस्याओं का चित्रण किया गया है --

'मेरा चूरन जो कोइ खाए, मुझको छोड़ कहीं नहीं जाय ॥

हिन्दू चूरन इसका नाम । विलायत पूरन इसका काम ॥

चूरन जब से हिन्द में आया । इसका धनबल सभी घटाया ।

चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा । कीना दांत सभी का खट्टा ॥'[३]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने गीत-योजना द्वारा रंगमंचीय शैली को पूर्णता प्रदान करने में जो योग प्रदान किया, वह पूर्णतः लोकतत्व से अनुप्राणित है ।

१- अम्बिकादत्त व्यास -- भारत सौभाग्य, पृ० २१ ।

२- रुद्र काशिकेय -- भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ६५४ ।

३- वही, पृ० ७७० ।

४- प्रकाश व्यवस्था

ध्वनि विस्तारक यंत्र की भांति भारतेन्दु युग में विद्युत प्रकाश भी सुलभ नहीं था। लोक से प्राप्य प्रकाश व्यवस्था का आधार विवेच्ययुगीन नाटककारों ने ग्रहण किया और नाटकों में समुचित निर्देश दिया है।

भारतेन्दु जी ने `भारतजननी` में भारत-सरस्वती के प्रवेश के समय सफेद चंद्र ज्योति छोड़ने और भारत-दुर्गा के प्रवेश के समय लाल चंद्र ज्योति [महताब] छोड़ने का निर्देश दिया है। भारत लक्ष्मी का प्रवेश हरी चंद्र ज्योति के प्रकाश में होता है। `प्रेमघन` ने `भारत सौभाग्य` और राधाचरण गोस्वामी ने अपने नाटकों में रंगीन चन्द्र ज्योति छोड़ने का संकेत दिया है। `यमक मंजरी` की प्रस्तावना में शतरंजी मशाल द्वारा प्रकाश होने का उल्लेख प्राप्त होता है। रेडियो रूपक " हिन्दी रंगमंच के सौ वर्षों में" पं० अमृतलाल नागर ने लिखा है -- "गैस के हांडों की रोशनी भी रंग चौगाना बढ़ाती थी.... और जब गैस भी नहीं थी तो अरगल लैंपों और मशालों और तेल के बड़े बड़े कुप्पों से अपने स्टेज को चमाचम बनाये था। फुट लाइट, हैडलाइट सब इसी से बना लेते थे।"[१]

नजीर बेग कंपनी से संबंधित स्वर्गीय बद्दन मिस्त्री ने एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया है कि " मिट्टी के दस पंद्रह प्याले जिनमें ताम चीनी बड़ा होता था, उनमें बिनौले भरकर जला देते थे। स्टेज के ऊपर जहां अब बड़ी लाइटें लगाते हैं, कुछ बड़े बड़े कंडील लटकाए जाते थे और हर पलवाई के ऊपर एक मशाल वाला तैनात रहता था।"[२]

`चंद्रावली` के अंक दो में नाटककार ने निर्देश दिया है -- संध्या का समय, कुछ बादल छाए हुए हैं अर्थात् संध्या के अनुरूप प्रकाश व्यवस्थित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार नील देवी के पांचवें दृश्य में [सूर्यदेव के डेरे का बाहरी पुंज

१- पं० अमृतलाल नागर -- हिंदी रंगमंच के सौ वर्ष, पृ० १७।

२- शरद नागर द्वारा -- बद्दन मिस्त्री से एक साक्षात्कार के आधार पर।

प्रांत रात के समय का संकेत है, तभी नेपथ्य में रोजो हुआ निंदिया प्यारे लगन .....झलमल दीप फिर वह छुनत बार" की गीतात्मक अभिव्यक्ति होती है। 'भारत दुर्दशा' के अंक चार में मदिरा-पात्रा के जाने के उपरांत यह निर्दिष्ट किया गया है कि "रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिये जायें" और इसी के उपरान्त अंधकार-पात्र प्रविष्ट होता है, अत: अंधकार की रूपरेखा निर्मित करने के लिए उपर्युक्त संकेत दिया गया है। श्री 'भानु' ने नाट्य-रूपक 'भारतेन्दु' में प्रकाश-निर्देशन द्वारा समय का बोध एवं रंगीन प्रकाश द्वारा दृश्यावली के अनुरूप वातावरण उपस्थित किया है।

'यौवन योगिनी' नाटक में मायावती के अभिनय में उज्ज्वालोक का संकेत है। "मायावती.... चली तुम्हारी यौवन योगिनी चली, संसार में मेरा नाम रहा यौवन योगिनी, चली अब यौवन योगिनी [पृथ्वीराज के ऊपर से तलवार उठाकर उससे मायावती का आत्मघात करना] [अलक्ष्य से उज्ज्वालोक प्रकाश और प्रतिध्वनि यौवन योगिनी] महा० — मैंने पहले ही से समझा था। यह कोई आम औरत नहीं है। शुक्र है यौवन योगिनी [अलक्ष्य से उज्ज्वल प्रकाश और प्रतिध्वनि यौवन योगिनी] ।

प्रकाश-व्यवस्था के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोक में व्याप्त उपकरणों का अवलम्बन ग्रहण कर नाटकों में स्थान-स्थान पर समुचित प्रकाश-व्यवस्था द्वारा नाट्य-प्रवृत्ति को संप्रेषणीय बनाया है। समग्रत: भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य में लोकरंगमंचीय तत्त्व प्रचुरता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों के समक्ष यह सुनिश्चित दिशा-दृष्टि थी कि रंगमंचीय चेतना का लोकमानस में अधिकाधिक प्रसार कर लोक-प्राणी को सही अर्थबोध से अवगत कराना आवश्यक है। इसीलिए लोक-रंगमंच का आधार ग्रहण करना नाटककारों के लिए एक प्रकार से सहज एवं उपयोगी हो गया था। कथा रूढ़ियों से पल्लवित प्रख्यात कथानकों तथा लोकभाषा के साथ ही रंगमंच के लोकोन्मुख रूप को अपनाकर भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने हिन्दी नाट्य साहित्य को सर्वथा नयी दिशा प्रदान की ।

उन्होंने अपनी नाट्य-रचना में लोकमानस को अभिव्यक्ति देकर युगबोध को सशक्त बनाया । कदाचित् अपनी लोकधर्मी चेतना के कारण ही भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने विभिन्न रंगमंचीय लोक उपकरणों को प्रश्रय देकर लोकमानस को अभिव्यक्ति प्रदान करने में व्यापक स्तर पर सफल हो सके ।

अध्याय - ६

मूल्यांकन और स्थापनाएं

मूल्यांकन और स्थापनाएं

भारतेन्दु-युग एक महान् क्रान्तिदर्शी युग था। क्रान्तिदर्शी इस सन्दर्भ में कि हिन्दी साहित्य रीतिकालीन काव्यधारा से मुक्त होकर लोकजीवन से व्यापक स्तर पर संपृक्त हो रहा था। इस युग में लोक जीवन की भावनाओं-प्रवृत्तियों के अनुकूल साहित्य-रचना के आयाम प्रयोगोन्मुख होकर व्यापकता ग्रहण करने लगे थे। और लोक प्रकृति उस साहित्य में अपने व्यक्तित्व एवं रीति-नीति के विविध रूपों को प्रतिबिम्बित पाकर साहित्यिक गतिविधियों से समन्वित होने में गौरवान्वित होने लगा था। आधुनिक जीवन की समस्याएं सभ्यता के विकास के साथ ही जटिल हो गई हैं, युग और परिवेश के अनुसार उनके स्वरूप में परिवर्तन भी हुआ है, किन्तु उन समस्याओं के समाधान में भारतेन्दु युग का कार्य आज भी प्रेरणा-सूत्रों को विकीर्ण करने में सक्षम है।

भारतेन्दु-युग में नाट्य-रचना साहित्यकारों का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया था। नाटककारों ने यह भलीभांति हृदयंगम कर लिया था कि लोकमानस के मनोगत भाव-विचारों की सच्ची अभिव्यक्ति नाटक और रंग-प्रस्तुति के माध्यम से ही हो सकती है और नाटकों के कथानकों में यथास्थान युगबोध के अनुकूल विचारों को सम्प्रेषित करके उनके मानस को प्रेरित-उत्तेजित किया जा सकता है। इसीलिए भारतेन्दुयुगीन नाटककारों का लोकजीवन से अत्यन्त निकटतम सम्पर्क रहा है और लोकजीवन को प्रभावी दिशा प्रदान करने के लिए नाटककार यत्नशील रहे हैं। अपने इस प्रयत्न को सार्थक, सक्षम एवं प्रेषणीय बनाने के लिए उन्होंने लोकतत्वों का प्रचुर प्रयोग किया है।

भारतेन्दुयुगीन नाट्यशिल्प को लोकतत्वों ने विभिन्न स्तरों पर प्रभावित किया है। नाट्य-शिल्प के अन्तर्गत कथानक, प्रयोजन (रूढ़ि), भाषा और

रंग-अवकीश का तकनीक का स्थान सर्वोपरि है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों की लोकदृष्टि प्रखर होने के कारण नाटकों के कथाचयन में उन्होंने लोककथानकों को आत्मसात किया है क्योंकि लोककथाओं के माध्यम से लोकमानस में व्याप्त मूल-भावना स्थूल रूप में अभिव्यक्ति पाती है। परिणामत: लोककथानकों के आधार पर संयोजित कथानकों के माध्यम से नाटककार लोकमानस को सांस्कृतिक गरिमा से सम्पृक्त कराने में सक्षम रहे हैं। सामयिक धर्म, समाज, एवं राजनीतिक परिवेश से प्रभाव ग्रहण कर जो नाटक प्रस्तुत हुए हैं, उनका वाङ्मय-रूप लोककथात्मक परिधान से सम्बद्ध नहीं है, तब भी नाट्य-शिल्प के अन्य तत्वों की दृष्टि से ये नाटक लोकोन्मुखता ग्रहण किए हुए हैं। ऐसे नाटकों के माध्यम से नाटककार अपनी मूलचेतना की प्रभावशीलता के कारण ही लोकमानस को नवोन्मेषी विचारधारा से अवगत कराने में समर्थ हो सके हैं।

रामकथापरक भारतेन्दुयुगीन नाटकों में नाटककारों की मूलदृष्टि लोकमानस में व्यापक प्रभाव रखने वाली रामकथा के माध्यम से लोक को उद्बोधित करके नयी समस्याओं के प्रति सचेत करना रही है। इस युग के अनेक नाटकों की रचनाएं पूर्णरूपेण लोकनाट्य परंपरा रामलीला के आधार पर हुई हैं। भारतेन्दुयुगीन कृष्णकथापरक नाटकों में लोकरंजक नायक कृष्ण के जीवन-वृत्त के विविध प्रसंगों को अभिव्यक्ति मिली है, जिनमें नाटककारों की गहरी मानवीय संवेदना समाहित हो गई है, अत: नाटकों का प्रभाव क्षेत्र व्यापक हो गया है और नाटककार अपने अभीष्ट उद्देश्यों को लोकमानस तक सम्प्रेषित करने में सम्बल प्राप्त कर सके हैं। महाभारत के कौरव-पाण्डव के कथानक से सम्बन्धित नाटकों में भारतेन्दुयुग के नाटककारों ने महाभारत की परम्परा से प्राप्त कथा-स्वरूप का विकास किया है, जिससे लोक का प्राणी चारित्रिक-गरिमा के साथ ही प्राचीन संस्कारों के सूत्रों को आत्मसात कर सका है। पातिव्रत्य-धर्म कथा-परक नाटकों में भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने जिन पतिव्रता नारियों के यश को अभिव्यंजित किया है, वे भावप्रवण लोकप्राणी को पुरातन-सूत्रों से सम्बद्ध कराने में सहायक रहे हैं। साथ ही युगबोध के अनुकूल उसे सक्षम दिशा भी मिली

है। लोक प्रसिद्ध भक्त कथापरक भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लोकमानस के इष्टदेवों की चारित्रिक-गरिमा मार्मिक रूप में प्रस्तुत हुई है। लोकजीवन के विविध आयामों को ये लोकप्रसिद्ध भक्त अनेक स्तर संस्पर्श करते रहे हैं, अतएव उनकी कथाएं नाट्य-रूप में अत्यन्त सजीवता ग्रहण कर सकी हैं और भारतेन्दुयुगीन नाटककार सफल होकर अपने उद्देश्यों को व्यक्त करने में समर्थ हो सके हैं।

लोक प्रचलित प्रेमाख्यानकों के आधार पर भारतेन्दुयुगिन नाटककारों ने मर्मस्पर्शी नाटकों की रचना की है। लोकवाणी की समग्र अभिव्यक्ति प्रेमरस से परिपूर्ण होती है। इन प्रेम कथाओं की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। लोककथा से अनुप्राणित प्रेम-नाटकों में भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने लोक-प्रचलित कथाओं को प्रश्रय देने के साथ ही सामाजिक समस्याओं के विविध पक्षों का साक्षात्कार किया है। इस प्रकार भारतेन्दु-युग के ~~नाटक~~ नाटककारों ने लोकप्रचलित कथाओं को प्रश्रय देने के साथ ही सामाजिक समस्याओं के विविध पक्षों का साक्षात्कार किया है। इस प्रकार भारतेन्दु-युग के नाटककारों में व्याप्त लोककथात्मक रूप (धर्मगाथाओं तथा प्रेमगाथाओं) का ही विशिष्ट रूप से आधार ग्रहण किया है। लोक कथाओं के प्रति नाटककार की प्रगाढ़ आस्था ही भारतेन्दु-युग को लोकचेतना से अधिकाधिक आवेष्टित कर सकी है और विविध स्तरों पर लोकतत्वों का प्रस्फुटन संभावित हो सका है।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-शिल्प पर लोकरूढ़ियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। लोकमानस में सम्भवत: विविधयुगीन लोकसंस्कृतियों के अवशिष्ट रूप विद्यमान रहते हैं, जो कथानक निर्माण में अपने अस्तित्व को समर्पित करते हैं। भारतीय साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए अनेक अभिप्राय अत्यन्त दीर्घकाल से व्यवहृत होते रहे हैं, जो अल्पसीमा तक यथार्थ रहते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ियों में परिवर्तित (होकर) रहते हैं और आगे चलकर (अत:) कथानक-निर्माण में लोकव्यापी विविध रूढ़ियां ही अपने स्वरूप को गत्यात्मक रूप प्रदान करती रही हैं। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने नाट्य-रचना में लोकरूढ़ियों का प्रचुर

प्रयोग किया है, जिससे कथा-प्रवाह, नाटकीय-संवेदना और प्रभावान्विति में सर्वथा नए आयाम संयुक्त हो गए हैं। लोकरूढ़ियां लोकआख्यानकों की विशिष्ट अंग हैं। एक लोककथा अनेक लोकरूढ़ियों के समन्वय से लोकाकर्षक रूप ग्रहण करती है, रूढ़ियों में लोकमानस की अनुभूति एवं संवेदना घनीभूत रूप में समाहित रहती है। अतएव लोकरूढ़ि लोकरूढ़ियों के प्रयोग से नाटककार अपने अभिलषित भावों-विचारों को लोकग्राह्य बना सके हैं।

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने लोक में व्याप्त रूढ़ियों को ग्रहण तो किया है, अपितु उन्होंने उन्हीं रूढ़ियों को अपनाया है, जो लोकचित्त को उद्वेलित कर सकती है, कथा-प्रवाह से सहज तादात्म्य स्थापित कर सकती हैं। ऐसी रूढ़ियां जो कि लोकमानस को पतनोन्मुख करती हैं, उनका नाटककारों ने उग्र विरोध किया है। परिष्कार की यह भावना सामयिक लोकजीवन को यथार्थ-दृष्टि प्रदान करने में सक्षम रही है।

लोककथा एवं लोकरूढ़ि समर्पित भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य में लोकभाषा ने भरपूर आश्रय ग्रहण किया है। भाषा के प्रति भारतेन्दुयुग के नाटककारों की नीति स्पष्टतः लोकचित्त के अनुकूल रही है। परिणामतः नाट्य-साहित्य में लोकभाषा-प्रयोग के माध्यम से भारतेन्दु-युग की चेतना को सम्बल मिला और नाटक उनकी चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतीक बन गया। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों की लोकसाहित्य रचना के प्रति स्पष्ट अवधारणा रही है और इसी दिशावर्द्धक कार्य के आधार पर भाषा विषयक प्रगति हुई है। लोकसाहित्य को योग देने का अर्थ यही था कि बोलचाल के उन शब्दों को अपने युग के नाट्य-साहित्य में प्रयुक्त किया जाए जिन्हें देशज कहा जाता है। क्योंकि बिना इन शब्दों के ग्रहण किए लोकचेतना का स्वरूप ही लुप्त हो जाता है। भारतेन्दु-युगीन नाटककारों ने इसीलिए लोकभाषा तत्व को अत्यन्त प्रमुखता प्रदान की। उन्होंने यह भलीभांति आत्मसात कर लिया था कि कथावस्तु तथा पात्रों के चारित्रिक विकास के लिए संवादों में प्रयुक्त भाषा ही एक ऐसा उपकरण है, जिससे एक ओर कथावस्तु को सुनिश्चित एवं प्रेरक दिशा मिलती है, तो दूसरी ओर पात्रों का सहज चारित्रिक विकास होता है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों

में प्रयुक्त संवादों में पर्याप्त मात्रा में देशज शब्दों, मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया है। इसी से भारतेन्दु-युगीन नाट्य-शिल्प में लोककथानकों, लोक-रूढ़ियों एवं लोकरंगमंच के प्रयोग से उसकी प्रभाव-प्रेषणीयता में वस्तुत: अभिवृद्धि हो गई है।

नाटक का प्रस्तुति पक्ष ही नाट्य-रचना को सफलता को पूर्णता प्रदान करता है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने लेखन एवं प्रदर्शन दोनों क्षेत्रों में समान रुचि ली है। रंगमंच की प्रभावोत्पादकता को समझते हुए भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने लोकचेतना को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए नाटक का अवलम्बन ग्रहण किया। नाटक का साक्षात् सम्पर्क लोक जीवन के इसके पक्षों से है। नाटक लोकजीवन की लोकभावनाओं और लोकभाषा को एक ऐसे संवेदनशील रूप प्रदान करता है। नाट्य-प्रस्तुति के प्रति भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की दृष्टि व्यापक रही है, अत: उन्होंने अपने नाटकों में यथास्थान पर्याप्त रंग-संकेत दिए हैं, जिससे सरलता के साथ लोक-उपकरणों का प्रयोग करके नाट्य-प्रस्तुति संभावित हो सकी है। भारतेन्दु-युगीन नाटककारों के समक्ष लोकनाट्य-रूपों यथा रामलीला, रासलीला, स्वांग और नौटंकी की परम्पराएं विद्यमान थीं, जिनकी प्रवृत्तियों के प्रयोग से उनके नाटकों की रंगमंचीय-संवेदना में स्वाभाविक प्रभावशीलता उत्पन्न हो गई है। इसके साथ ही भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने समकालीन रंगमंच अंग्रेज़ी, बंगला, एवं पारसी रंगमंच के लौकिक स्वरूप को परिष्कृत रूप में ग्रहण किया है। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित लोकरंगमंच ने देश के विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित किया है। इस शृंखला में काशी, प्रयाग, कानपुर, बलिया, बिहार और मध्यप्रदेश की भारतेन्दुयुगीन रंगमंचीय प्रवृत्तियों से नाट्य-चेतना के प्रति नाटककारों की प्रखर दृष्टि स्पष्ट हुई है कि वे नाट्य-साहित्य के माध्यम से लोकमानस को अत्यन्त सफलता के साथ सामयिक-बोध से समन्वित करने में सफल रहे हैं।

समग्रत: भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य के लोकतात्विक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वस्तु और शिल्प के स्तर पर लोकोन्मुखी रहा है।

उसमें सांस्कृतिक गरिमा एवं आभिजात्य-परम्परा के साथ लोक-उपकरणों को सशक्त एवं श्लाघ्य अभिव्यक्ति मिली है। भारतेन्दुयुगीन नाट्यसाहित्य में इसीलिए युगबोध का वृत्त अत्यन्त व्यापक है। उसमें सामयिक लोकमानस की अभिव्यक्ति देकर लोक को प्रेरित एवं उत्तेजित करने की अद्भुत क्षमता है।

परिशिष्ट - १

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य की सूची

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य की सूची

नाटककार	नाटक	प्रकाशक	प्रकाशन काल	संस्करण	प्राप्य स्थल
अमान सिंह जोगिया और जागेश्वर दयाल	मदनमंजरी	--	लगु १८८४ई०	प्रथम	ब्रजरत्नदास पुस्त० काशी
अयोध्याप्रसाद चौधरी	प्रबोध चंद्रोदय	देवीदीन उपाध्याय नार्मल स्कूल, आगरा	सं० १९४?वि०	,,	सभा, काशी
अन्ना जी इनामदार	गोपीचंद	--	--	--	सरस्वती पुस्त० काशी
अनन्तराम पांडे	कपटीमुनि	भारतजीवन प्रेस, काशी	१९०३ ई०	प्रथम	भारतीभवन प्रयाग
अम्बिकादत्त व्यास	भारतसौभाग्य	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर	१८८७ई०	,,	सभा काशी
	कलियुग और घी	शिवनाथ भट्ट नारायण प्रेस, मुजफ्फरपुर	१८८३ई०	,,	,,
	ललिता	ग्रंथकार वैष्णव पत्रिका कार्यालय, काशी	१९४० वि०	,,	,,
	गो संकट	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर	१८८३ई०	,,	,,
	मन की उमंग	देवीप्रसाद नारायण यन्त्रालय, मथुरा	१९४८वि०	,,	,,
उदित नारायण	सती नाटक	भारतजीवन यन्त्रालय, काशी	१८८९ई०	,,	भारतीभवन प्रयाग
उदित नारायण शर्मा	वसुमती नाटक	भारतजीवन प्रेस, काशी	१८९८ई०	,,	सभा काशी
कन्हैयालाल	अंजनासुंदरी	वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	१९५४वि०	,,	,,
	शीलसावित्री	,, ,,	,,	,,	,,
कार्तिक प्रसाद खत्री	उषाहरण	हरिप्रकाश यंत्रालय, काशी	१८९१ ई०	,,	,,
काशीनाथ खत्री	ग्राम पाठशाला या निकृष्ट नौकरी	भारतजीवन प्रेस, काशी	१८९३ई०	दूसरा	,,
	विधवा विवाह	ग्रंथकार सिरसा, इलाहाबाद	१८८२ ई०	प्रथम	,,

काशीनाथ खत्री	परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक:- १-सिंधुदेश की राजकुमारी २- गुन्नौर की ~~राजकुमारी~~ रानी ३- लव जी का स्वप्न	ग्रंथकार सिरसा, इलाहाबाद	१८८४ ई०	प्रथम	सभा काशी
कामताप्रसाद	कन्या सम्बोधिनी	ग्रंथकार रामाबाद, इलाहाबाद	१९४५ वि०	,,	,,
किशोरीलाल गोस्वामी	मयंक मंजरी	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	१८९१ ई०	,,	,,
	नाट्यसंभव	लहरी प्रेस, काशी	१९०४ ई०	,,	,,
	चौपट चपेट	राजस्थान यंत्रालय, अजमेर	१८९५ ई०	,,	,,
केशवराम भट्ट	सज्जाद सम्बुल	बिहार बंधु प्रेस, बांकीपुर	१८७७ ई०	,,	,,
कैलाशनाथ वाजपेयी	विश्वामित्र	मेडिकल प्रेस, कानपुर	१८९७ ई०	,,	,,
कृष्णाजी महाराज 'तक्क'	विद्याविलासी व सुख बंधनी	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	१८८५ ई०	,,	,,
कृष्णानन्द त्रिवेदी	विद्याविनोद	भारतमित्र प्रेस, ३६ नया चाइना बाजार, कलकत्ता	१८९४ ई०	,,	,,
खिलावन लाल	प्रेमसुंदर	शंकरलाल एंड को, कोतवाली चौक, जबलपुर	१८९२ ई०	,,	,,
खड्गबहादुर मल्ल	कल्पवृक्ष	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर	१८८८ ई०	,,	,,
	भारत आरत	,, ,,	१८८५ ई०	,,	,,
	भारत ललना	,, ,,	१८८८ ई०	,,	,,
	रतिकुसुमायुध	,, ,,	१८८५ ई०	,,	,,
	महारास	,, ,,	१८८५ ई०	,,	,,
	हरितालिका	,, ,,	१८८७ ई०	,,	,,
गोपालराम गुप्त	देशदशा	ग्रंथकार गहमर, गाजीपुर	१८९२ ई०	,,	,,
	यौवन योगिनी	एस०पी०और कं०मार्केट, बम्बई	१८९४ ई०	,,	,,
	चित्रांगदा	--	--	--	--
	विद्याविनोद	हनुमंत प्रेस, कालाकांकर	१८९२ ई०	प्रथम	सभा काशी

गौरीदत्त पंडित	सराफिी	देवनागरीप्रचारिणी सभा, मेरठ	१८९०ई०	प्रथम	सभा काशी
गुलाबसिंह	संगीत रूप कांत	ग्रंथकार काशी समान यंत्रालय, मथुरा	१९४८वि०	,,	,,
गोपालचंद्र [गिरिधर दास] [संपादन : ब्रजरत्नदास]	नहुष	सभा काशी	२०१?वि०	,,	,,
घनश्यामदास	वृद्धावस्था विवाह	--	--	--	भारती-भवन, प्रयाग
छगनलाल कासलीवाल	सत्यवती	ग्रंथकार, अजमेर	१८९३ई०	प्रथम	सभा काशी
जगन्नाथ भारतीय	नवीन वेदान्त	लाल रामचंद्रवैश्य, मेरठ	१९४७वि०	,,	,,
	समुद्र यात्रा	ग्रंथकार छिपीवाड़ा दिल्ली	१८८७ई०	,,	,,
जगन्नाथ शरण	प्रह्लाद चरितामृत	ग्रंथकार रतनपुरा, छपरा	१९००ई०	,,	,,
जगन्नाथप्रसाद शर्मा	कुंदकली	ग्रंथकार सुपरिटेंडेंट पी० आ०, जबलपुर	१८९६ई	,,	,,
जगेश्वर दयाल	मदनमंजरी	भारतजीवन प्रेस, काशी	१८८४ई०	,,	,,
जगत नारायण	अकबर गोरक्षा न्याय	आलियाबाद, बाराबंकी	--		भारतीभवन प्रयाग
	भारत डिमडिमा	ग्रंथकार दशाश्वमेघ, काशी	--		सभा, काशी
जयगोविंद मालवीय	अथरामचरित्र	माधोप्रसाद चौबे, अहियापुर, प्रयाग	१८९४ई०	प्रथम	,,
ज्वालाप्रसाद मिश्र	सीता वनवास	वेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई	१९५२वि०	,,	,,
	वेणी संहार	,, ,,	--	--	,,
तोताराम वकील	विवाह विडम्बन	भारतबंधु यंत्रालय, अलीगढ़	१९००ई०	द्वारा	,,
	सीता स्वयंवर	संस्कृत पुस्तकालय, सदर बाजार, मेरठ	१९५०वि०	प्रथम	,,

दामोदर शास्त्री सप्रे	रामलीला नाटक	खड्गविलासप्रेस, बांकीपुर	१८८२ई०	प्रथम	सभा काशी
	बालकाण्ड	,,	,,	,,	,,
	अयोध्याकाण्ड	,,	१८८३ई०	,,	,,
	अरण्यकाण्ड	,,	१८८४ई०	,,	,,
	किष्किंधाकाण्ड	,,	१८८७ई०	,,	,,
	सुंदरकाण्ड	,,	१८८७ई०	,,	,,
	युद्धकाण्ड	,,	१८८७ई०	,,	,,
	उत्तरकाण्ड	,,	१८८८ई०	,,	,,
	बालखेल या ध्रुवचरित्र	,,	१८८६ई०	,,	,,
दरयावसिंह मदनराजजी	मृत्युसभा प्रहसन	लक्ष्मी वेंकटेश्वरप्रेस, बंबई	१८६५ई०	,,	,,
द्विज कृष्णादत्त	श्री युगलविहार	हिंदी सभा प्रेस, लखीमपुर	१८६६ई०	,,	,,
देवकीनन्दन त्रिपाठी	कलजुगी जनेऊ	जगन्नाथशर्मा धार्मिक यंत्रालय, प्रयाग	१६४३वि०	,,	,,
	कलयुगी विवाह प्रहसन	,,	१६४६वि०	,,	,,
	जयनारसिंह की	भारतजीवन प्रेस, काशी	१८८४ई०	दूसरा	,,
देवदत्त शर्मा पंडित	अति अंधेरनगरी	रामनारायण प्रकाश यन्त्रालय, फरुखाबाद	१८६१ई०	प्रथम	,,
	बाल्य विवाह	चिंतामणि यन्त्रालय, फरुखाबाद	१८६७ई०	चतुर्थ	,,
देवराज	सावित्री नाटक	ग्रंथकार, जालंधर	१६००ई०	प्रथम	,,
देवदत्त मिश्र	बाल्यविवाह दूषण	खड्गविलासप्रेस, बांकीपुर	१८८५वि०	,,	,,
दुर्गाप्रसाद मिश्र व कालीप्रसाद मिश्र	सरस्वती	उचित वक्ता यंत्रालय, ६५ सूतापट्टी, कलकत्ता	१६५२वि०	,,	,,
रामभजन मिश्र	पुरंदर सभा	मुलतान प्रिंटिंग प्रेस, छावनी नीमच	१६५७वि०	,,	,,
रामशरण शर्मा व ठाकुरदास शर्मा	अपूर्व रहस्य	रामशरण शर्मा, आगरा	१८८८ई०	,,	,,
रुद्रदत्त शर्मा	आर्यमत मार्तण्ड [भाग-१,२]	आर्य भास्कर प्रेस, गोकुलचंद्र शर्मा, बड़ी हट्टा, कलकत्ता	---	--	भारतीभवन
	पाखण्ड मूर्ति	,,	,,	१८८८ई०	प्रथम सभाकाशी

निद्धीलाल मिश्र	विवाहिता विलाप	वेंकटेश्वर यंत्रालय, बंबई	१८९८ ई०	प्रथम	भारती भवन
प्रतापनारायण मिश्र	भारत दुर्दशा रूपक	,,	१९५६ वि०	,,	सभा काशी
	संगीत शाकुंतल	खड्गविलासप्रेस, बांकीपुर	१९०८ ई०	दूसरा	,,
	कलिकौतुक रूपक	--	--	--	,,
प्रभुलाल कायस्थ अष्ठाना	अथ द्रौपदी वस्त्र हरण अर्थात् पांडव वनगमन	गुरुप बाजार, आमबाग दक्षिण हैदराबाद	१९५३ वि०	प्रथम	,,
बालकृष्ण भट्ट	शिक्षादान	महादेव भट्ट, अहियापुर प्रयाग	१९६६ वि०	,,	सम्मेलन
	दमयंती स्वयंवर [सं० धनंजय भट्ट]	सम्मेलन, प्रयाग	१९९९ वि०	,,	,,
संपादन धनंजय भट्ट	बृहन्नला	सभा, काशी	२००४ वि०	,,	,,
	वेणु संहार	,,	,,	,,	,,
	जैसा काम वैसा परिणाम	,,	,,	,,	,,
	पद्मावती	हिंदी प्रदीप पृ० ६-६१	१८७८ सितंबर	,,	सभा काशी
	चंद्रसेन	,, ७-१०	१८७७ सितंबर	,,	,,
	किरातार्जुनीय	,, १६-३३	१८७७ अक्टू० से दिसंबर	,,	,,
	शिशुपालवध	,, ४०-५२	१८८६ सितंबर से दिसम्बर	,,	,,
	आचार विडम्बन	,, १०-१६	१८८४ अक्टू०	,,	,,
	नई रोशनी का विष	,, १५-१८	१८८२ सितंबर	,,	,,
	सीता वनवास	,, १३-२१	,,	,,	,,
	पतित पंचम	,, १४-१७	१८८८ अगस्त	,,	,,
	मेघनाद वध	,, ४-८	१८९४ नवंबर	,,	,,
बदरप्रसाद पंडित	मालतीवसंत	ग्रंथकार हितचिंतक प्रेस, काशी	१९५६ वि०	,,	,,
बैजनाथ विद्यार्थी	वीरबामा	,, कौसी, मथुरा	१९४० वि०	,,	,,
बालमुकुंद पाण्डेय	गंगोत्री			,,	सम्मेलन
बालमुकुंद गुप्त	रत्नावली	भारत मित्र प्रेस, ९७ बोरबागान कलकत्ता	१९५८ वि०	,,	सभा
बंदीदीन दीक्षित	सीतास्वयंवर अर्थात धनुष यज्ञ	श्री वेंकटेश्वर यंत्रालय, बंबई	१९०० ई०	,,	भारतीभवन

बंदीदीन दीक्षित	सीताहरण	लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस	१८६५ ई०	प्रथम	भारती भवन
	सुदामाकृष्ण	पं० नीलकण्ठ, अमीनाबाद, लखनऊ	१९३३ वि०	दूसरा	सभा
बदरीनारायण शर्मा	भारत सौभाग्य	आनंदकादंबिनी प्रेस, मिर्जापुर	१८८८ ई०	प्रथम	भारती०
बदरीनारायण 'प्रेमघन'	प्रयाग रामागमन	,,	१९३८ वि०	,,	,,
बल्देव जी आढ़ा	सुलोचना सती	ग्रंथकार छपरा		,,	सभा
	रामलीला विजय	बल्देवप्रसाद विचार सभा, इटावा	१९४० वि०	,,	,,
बल्देवप्रसाद मिश्र	नंद विदा	इंडिया लिटरेचर सोसाइटी मुरादाबाद	१९०० ई०	,,	,,
	प्रभास मिलन	वेंकटेश्वर प्रेस बंबई	१९५० वि०	,,	,,
	लल्ला बाबू प्रहसन	,,	१९५७ वि०	,,	,,
भवदेव उपनाम रज्जी दुबे	सुलोचना सती	सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर	१८९३ ई०	,,	,,
भिनगाधिप देव दिनेश	प्रेममंजरी	ग्रंथकार भिनगा	१९५१ वि०	,,	,,
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	वैदिकी हिंसा	सभा काशी	२०२७ वि०	,,	सम्मेलन
[सं० ब्रजरत्नदास — भारतेंदु ग्रंथावली]	विषस्य विषमौषधम	सभा काशी	,,	,,	,,
	श्री चंद्रावली	,,	,,	,,	,,
	भारत दुर्दशा	,,	,,	,,	,,
	अंधेर नगरी	,,	,,	,,	,,
	पांचवें [जूता] पैगंबर	,,	,,	,,	,,
	प्रेम जोगिनी	,,	,,	,,	,,
	सती प्रताप	,,	,,	,,	,,
	सत्य हरिश्चंद्र	,,	,,	,,	,,
	विद्या सुंदर	,,	,,	,,	,,
	धनंजय विजय	,,	,,	,,	,,
	मुद्राराक्षस	,,	,,	,,	,,

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	कर्पूर मंजरी	सभा, काशी	२०२७वि०	प्रथम	सम्मेलन
	दुर्लभ बंधु	,,	,,	,,	,,
	रत्नावली	,,	,,	,,	,,
	पाखंड विडंबन	,,	,,	,,	,,
	भारत जननी	,,	,,	,,	,,
	सबै जात गोपालकी	,,	,,	,,	,,
	बसंत पूजा	,,	,,	,,	,,
	जाति विवेकिनी सभा	,,	,,	,,	,,
	संड मंड्यो संवाद	,,	,,	,,	,,
	बंदर सभा	,,	,,	,,	,,
	श्री रामलीला	,,	,,	,,	,,
मधुसूदन लाल पं० दुर्गा-प्रसाद शर्मा	प्रभास मिलन	कृष्णानन्द शर्मा ६७ बीबागान, कलकत्ता	१६५६वि०	,,	सभा
माधव शुक्ल	महाभारत पूर्वार्द्ध	रामचंद्र शुक्ल, कूंचा घनश्याम दास, प्रयाग	१६७३वि०	,,	,,
रघुवीर सिंह वर्मा	मनोरंजनी	महावीर सिंह मंत्री, आर्यसमाज, कलकत्ता	१८६०ई०	,,	,,
रत्नचन्द्र मुंशी	हिन्दी-उर्दू	कुसुमचन्द्र, प्रयाग	१८६०ई०	,,	,,
	भ्रमजालक	नवल किशोर प्रेस, लखनऊ	१८८२ई०	,	,,
	न्यायसभा	धार्मिक यंत्रालय, प्रयाग	१८६२ई०	,,	,,
रविदत्त शुक्ल	धर्मविजय	धर्मामृत० यंत्रालय० बनारस			
	देवाक्षर चरित्र	आर्य देशोपकारिणी सभा बलिया	१८८४ई०	,,	,,
राधाकृष्णदास	धर्मालाप	धर्मामृत यंत्रालय, बनारस	१६४२वि०	,,	,,
	दुःखिनी बाला	ग्रंथकार चौखम्भा, काशी	१६५[illegible]वि०	,,	,,
	महाराणा प्रताप सिंह	सभा, काशी	१६३५वि०	आठवां	,,
	महारानी पद्मावती	ग्रंथकार, चौखम्भा, काशी	१६५०वि०	प्रथम	,,
रामगरीब चतुर्वेदी	नागरी विलाप	ग्रंथकार राजकीय पाठ-शाला, काशी	१८८५ई०	,,	,,

राजेन्द्र बहादुर सिंह	प्रेमवाटिका	ग्रंथकार भिनगा	१८६२ई०	प्रथम	सभा
रामगोपाल विद्यान्त	रामाभिषेक	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	१८७७ई०	,,	भारतीभवन
राधाकान्त लाल	देशी कुतिया विलायती बोल	ग्रंथकार छपुआ	१८६८ई०	,,	सभा
राधाचरण गोस्वामी	तन मन धन गुसांई जी को अर्पण	ग्रंथकार वृन्दावन	१८६०ई०	,,	,,
	बूढ़े मुंह मुंहासे	भारतजीवन प्रेस, काशी	१९४४वि०	,,	,,
	भंग तरंग	ब्रजभूषण यंत्रालय	१९.४वि०	,,	,,
	सती चंद्रावली	राजस्थानी यंत्रालय, अजमेर			,,
	अमर सिंह राठौर	ग्रंथकार, मथुरा	१८६५ई०	,,	,,
	श्रीदामा नाटक	वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई	१९६१वि०	,,	,,
रामभजन मिश्र	मुछन्दर सभा	मुलतान प्रिंटिंग प्रेस, छावनी नीमच	१९५७वि०	,,	,,
रामशरन शर्मा व ठाकुरदास शर्मा	अपूर्व रहस्य	रामशरन शर्मा, आगरा	१८८८ई०	,,	,,
रुद्रदत्त शर्मा	आर्यमत मार्तण्ड [भाग १,२]	आर्यभास्कर प्रेस,			भारतीभवन
	पाखंड मूर्ति	गोकुलचंद्र शर्मा, दर्जीहट्टा, कलकत्ता	१८८८ई०	,,	सभा
रामकृष्ण वर्मा	कृष्णमुरारी	भारतजीवन प्रेस, काशी	१८६६ई०	दूसरा	,,
	पद्मावती	,,	१८८६ई०	प्रथम	,,
	वीरनारी	,,	१८६८ई०	,,	,,
रामप्रभुलाल	द्रौपदी वस्त्र हरण	वेंकटेश्वर प्रेस बंबई	१९५३वि०	,,	,,
लाली श्रीमती	गोपीचंद	जैन प्रेस, लखनऊ	१८६३ई०	,,	,,
विजयानन्द त्रिपाठी	प्रबोध चंद्रोदय	बनारस स्टेट प्रेस, सभा			,,
	महामोह विद्रावण	ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा काशीपुरी	१८८७ई०	,,	भारती०

विंध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी	मिथिलेशकुमारी	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर	१८८८ई०	प्रथम	सभा,काशी
विद्याधर त्रिपाठी	उद्धव वशीठि	रामचन्द्र ज्ञानवीकारवे अर्डीग, मथुरा	१८८७ई०	,,	,,
विश्वनाथसिंह जू देव	आनंदरघुनंदन	ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर काशी नरेश	१९२८वि०	,,	,,
शालिग्राम वैश्य	माधवानल कामकंदला	वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई			सम्मेलन
	लावण्यमती सुदर्शन	,,			,,
	अभिमन्यु	,,			,,
	पुरु विक्रम	,,	१९५३वि०	,,	सभा
	मोरध्वज	,,	१८९०ई०	,,	भारती०
शिवशंकरलाल वाजपेयी	रामयशदर्पण (तीनों भाग)	कैलाश यंत्रालय,कानपुर	१८९२एवं १८९३	,,	,,
शिवराम पांडे वैद्य	होलिकादर्पण	सिटी एलवियन प्रेस,	१८९५ई०	,,	सभा
शीतलाप्रसाद त्रिपाठी	जानकीमंगल	सभा, काशी	२०२६ वि०,	,	सम्मेलन
(संपादन डा०धीरेंद्र नाथ सिंह)					
श्रीनिवासदास	तप्ता संवरण	खड्गविलास प्रेस,बांकीपुर	१८८३ई०,	,	सभा
	रणधीर और प्रेममोहिनी	उचित वक्ताप्रेस सूता-पट्टी, कलकत्ता	१९४० वि०	तृतीय	,,
	संयोगिता स्वयंवर	सदानन्द मिश्र,सुधा-निधि कार्यालय,कलकत्ता	१९४२वि०	प्रथम	,,
	प्रह्लाद चरित्र	वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई	१९५२वि०	,,	,,
श्रीहर्ष	दमयंती स्वयंवर	तुलसी स्वामी, सरस्वती यंत्रालय,प्रयाग	१८९५ई०	,,	,,
सुदर्शनाचार्य शास्त्री	अनर्घनल चरित्र	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस,बंबई	१९६५वि०	,,	,,
हनुमंत सिंह	सती चरित्र	राजपूत ऐंग्लो ओरियंटलप्रेस आगरा	१९००ई०	,,	सम्मेलन
'हरिऔध'अयोध्यासिंह उपाध्याय	प्रद्युम्न विजय व्यायोग	भारत जीवन प्रेस,काशी	१८९३ई०	,,	,,
	रुक्मिणी परिणय	,, ,,	१८९४ई०	,,	,,

---o---

परिशिष्ट-२

भारत कला भवन काशी में अध्ययन की गई प्राप्य भारतेन्दु युगीन साहित्य की सूची

१- राधाकृष्ण को राधाकृष्ण गोस्वामी द्वारा लिखित पत्र
२- वैदिकी हिंसा- भारतेन्दु १८७३ई० प्रथम संस्करण
३- भक्ति सूत्र वैजन्ती - भारतेन्दु १८७६ ई० प्रथम संस्करण
४- श्री चन्द्रावली नाटिका- भारतेन्दु १८७७ई० प्रथम संस्करण
५- विजयिनी विजय वैजन्ती - भारतेंदु १८८२ ई० - -
६- कर्पूर मंजरी- भारतेंदु १८८२ ई० - -
७- प्रेम प्रलाप - भारतेंदु १८८३ ई० प्रथम संस्करण
८- मुद्रा राक्षस -(अनुवादक) भारतेंदु भारतेंदु १८८३ ई० ---
९- नाटक - भारतेंदु १८८३ ई० प्रथम संस्करण
१०- हिन्दी भाषा - भारतेंदु - १८८३ ई० --------
११- रिपनाष्टक - भारतेंदु - १८८४ ई० प्रथम संस्करण
१२- बलिया में व्याख्यान - भारतेंदु - प्रस्तावना लेखक- पं० रविदत्त शुक्ल, १८८४ ई०
१३- अंधेर नगरी - भारतेन्दु - १८८४ ई० - पंचम संस्करण
१४- शिक्षा आयोग में भारतेंदु जी का साक्ष्य
१५- पत्रक- भारतेंदु के नाम हिन्दी प्रेमियों का- एजुकेशन कमीशन के संदर्भ में
१६- होरी संग्रह - भारतेंदु जी (संग्रहकर्ता)
१७- मल्हार हिंडोला कजली जयंती - भारतेंदुजी(संग्रहकर्ता) प्रथम संस्करण १८८२ई०
१८- उचित वक्ता की भारतेंदु को श्रद्धांजलि
१९- श्री हरिश्चन्द्राष्टक - पंडित श्रीधर पाठक - सन् १८८८ ई०
२०- दु:खिनी बाला - बाबू राधाकृष्णदास - सन् १८८०ई० प्रथम संस्करण
२१- बाबू राधाकृष्णदास लिखित महाराणा प्रताप नाटक की पाण्डुलिपि पृष्ठ ३३ से ४९ तक
२२- रामचरितमानस- सदल मिश्र का संस्करण सं० १८६७ वि०
२३- इतिहास तिमिरनाशक - राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द १८७७ई० प्रथम खंड
२४- परीक्षा गुरु- लाला श्रीनिवासदास द्वितीय संस्करण सन् १८८४ ई०

२५- राजा शिवप्रसाद के लेक्चर- संग्रहकर्ता पं० चिन्तामणिराव बनारस - १८८५ई०
२६- खड़ी बोली का पद्य-(पहला भाग) संग्रहकर्ता अयोध्याप्रसाद खत्री-मुजफ्फरपुर १८८७ई०
२७- सरस्वती - एक हिन्दू गार्हस्थ रूपक- रचयिता-पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र कलकत्ता-१८९८ई०प्र०सं०
२८- ठेठ हिन्दी का ठाठ- लेखक अयोध्यासिंह उपाध्याय- ३०।३।१८९९ई०
२९- जयनारसिंह की - पंडित देवकीनन्दन,तीसरा संस्करण बनारस - १८९९ ई०
३०- गुलजारे पुरबहार-(पढ़ने व गाने लायक पद्यों का संग्रह) संग्रहकर्ता भारतेंदु,तृतीय सं० १९००
३१- कलिकौतुक रूपक- पंडित प्रतापनारायण मिश्र, द्वितीय संस्करण,काशी १९०४ई०
३२- हिन्दी भाषा- बाबू बालमुकुन्द गुप्त कलकत्ता, १९०७ ई०
३३- संगीत शाकुन्तल- प्रतापनारायण मिश्र १९०८ ई०, द्वितीय संस्करण
३४- भारतेंदु और राव भरतपुर स्त्री वेश में तथा अन्य दुर्लभ चित्र
३५- श्री हरिश्चन्द्र कौमुदी- मासिक पत्रिका भाग-१,संख्या-२,काशी,१८८ १८९४ ई०
३६- साहित्य सुधानिधि- मासिकपत्र भाग-२ संख्या १,२,३ संपादक- श्री जगन्नाथप्रसाद
रत्नाकर तथा श्री देवकीनन्दन खत्री-
काशी १८९४ई०
३७- बिहार-भूषण- मासिक पत्रिका संपादक भाग-१ संख्या-१ गया सं०१९५३ वि०
३८- हिन्दी प्रदीप- मासिक- संपादक- पं० बालकृष्ण भट्ट जिल्द २२ संख्या-५ प्रयाग१८९९ई०
३९- भाषा चन्द्रिका- मासिकपत्र ,संपादक-श्री हरेकृष्णदास काशी,१९००ई०
४०- समालोचक- मासिक पत्र- संपादक बाबू गोपाल राम गहमरी,जयपुर सन् १९०२ई०
४१- आनंदकादम्बिनी- मासिक माला चार मेघ ५,६,७(१९०२ई०), मेघ १०,११,१२(१९०३ई०)
संपादक - प्रेमघन मिर्जापुर
४२- नागरी हितैषिणी पत्रिका- त्रैमासिक संपादक-जैनेन्द्रकिशोर और पं० सकलनारायण
पाण्डेय वर्ष-१ संख्या-४ आरा सन् १९०४ई०
४३- भारतीसर्वस्व- मासिक संपादक- गणेशगोपाल रागणेकर,वर्ष-१,अंक-१ हरदा १९०६ई०
४४- भारत भानु- मासिक संपादक- माधवप्रसाद शास्त्री गौड़ खंड-१ संख्या-१ बम्बई १९०५ई०
४५- श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका- खंड-२ संख्या-४(१८७५),खंड-३ संख्या८-१२ तक(१८७६ई०),
खंड-४ संख्या-२(१८७६ई०) खंड-५ संख्या-२(१८७७ई०)खंड-६ सं०-४(१८७८ई०)
४६- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका- खंड-७ संख्या-६ संवत् १९३७ वि०
४७- कविवचन सुधा सप्लिमेंट- आर्य नाट्य सभा, प्रयाग की अपील इलाहाबाद १८७६ ई०

४८- कविवचन सुधा- संपादक भारतेंदु- जिल्द ३,एवं ७ से १८ तक अर्थात् सन् १८८६-८७ तक
४९- नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका- खंड ११ संख्या-१ सन् १८८५ई०
५०- प्रयाग समाचार - सन् १८९२ ई०

--------:o:--------

परिशिष्ट-३

पत्र-पत्रिकाएं

नाम	प्राप्य स्थल
१- `आज` वाराणसी	सभा,काशी
२- नागरी पत्रिका,वाराणसी	।
३- नागरी प्रचारिणी पत्रिका,वाराणसी	।
४- काशी पत्रिका , वाराणसी	।
५- आनंद कादम्बिनी, मिर्जापुर	।
६- कवि वचन सुधा,वाराणसी	।
७- बिहारबन्धु - पटना	।
८- श्री नाट्य पत्रिका, वाराणसी	।
९- धर्मयुग, बम्बई	।
१०- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका- वाराणसी	।
११- ब्राह्मण,कानपुर	।
१२- संगम, इलाहाबाद	।
१३- नयापथ, लखनऊ	।
१४- सरस्वती, इलाहाबाद	।।
१५- नटरंग, दिल्ली	।
१६- सम्मेलन पत्रिका, इलाहाबाद	।
१७- माध्यम, इलाहाबाद	।
१८- क्षात्रिय पत्रिका, वाराणसी	।
१९- हिन्दी प्रदीप- इलाहाबाद	।
२०- हरिश्चन्द्र मैगजीन, वाराणसी	।
२१- हरिश्चन्द्र चंद्रिका और मोहन चन्द्रिका, वाराणसी	।
२२- हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहन चन्द्रिका विचार्यो सम्मिलित,वाराणसी	।

२३- स्वतंत्र भारत, लखनऊ	सभा ,काशी
२४- समालोचक,जयपुर	।
२५- भारतीय साहित्य, आगरा	।
२६- शतदल, गोरखपुर	।
२७- नवजीवन, लखनऊ	।
२८- माधुरी, लखनऊ	।
२९- उचित वक्ता, कलकत्ता	।
३०- नागरी हितैषिणी पत्रिका,आरा	।

--------:0:--------

परिशिष्ट -४

चिन्ह (— अज्ञात
,, वही

संदर्भ ग्रन्थ

हिन्दी

रचनाकार	कृति	प्रकाशक	प्रकाशन काल	संस्करण
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	१- हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास	पटना - यूनिवर्सिटी	१९३४ई०	प्रथम
,,	२- ठेठ हिन्दी का ठाठ	खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर	१९२२ई०	,,
अरविन्दकुमार देसाई, (डा०)	भारतेन्दु और नर्मद साहित्य	सरस्वती पुस्तक-सदन, आगरा	१९६५ई०	,,
आलम	माधवानल कामकंदला	सभा, काशी	—	—
इन्दिरा जोशी(डा०)	हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्व	—	—	—
इन्दुजा अवस्थी(डा०) अनुवादिका	नाटक साहित्य का अध्ययन	—	—	—
उषा माथुर(डा०)	भारतेन्दु की खड़ी बोली	सभा, काशी	—	—
उदयनारायण तिवारी	भोजपुरी भाषा और साहित्य	—	—	—
एम० ईश्वरी	भारतेन्दु शब्द शैली	—	—	—
कमलापति त्रिपाठी	पत्र और पत्रकार	ज्ञानमण्डल लि० बनारस	२००२वि०	प्रथम
कपिलदेव सिंह(डा०)	ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली	विनोद पुस्तक भवन, आगरा	१९५६ई०	,,
कामिल बुल्के(डा०)	रामकथा उत्पत्ति और विकास	विश्वविद्यालय प्रयाग	---	प्रथम
कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह	१- हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा	भारती ग्रन्थ-भण्डार, दिल्ली	१९६४ई०	,,
,,	२- मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु	ग्रन्थ कुटीर, कानपुर	१९५८ई०	,,
कमलिनी मेहता(डा०)	नाटक के तत्व	सभा, काशी	२०००वि०	,,
कृष्णदेव उपाध्याय(डा०)	लोक साहित्य की भूमिका	~~सभा, कलके~~	---	—

किशोरीलाल गुप्त(डा०)	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	--	--	--
गोपीनाथ तिवारी(डा०)	१- भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य	हिन्दी भवन, इलाहाबाद	१९५९ई०	प्रथम
,,	२- भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	१९७१ ई०	,,
गोविन्दचन्द्र	भरत नाट्य शास्त्र के नाट्यशालाओं के रूप	काशी मुद्रणालय	१९५८ई०	,,
चन्द्रभान	रामचरितमानस में लोक-वार्ता	--	--	--
चतुरसेन शास्त्री	१- हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास	गौतम बुक डिपो दिल्ली	१९४६ई०	प्रथम
,,	२- वयं रक्षाम:	शारदा प्रकाशन भागलपुर	१९५५ई०	,,
चन्द्रप्रकाश त्यागी	देशी शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	लिपि प्रकाशन दिल्ली	१९७२ई०	,,
चन्द्रराज भण्डारी	नाट्यकला दर्शन	हिन्दी साहित्य प्रचारक कार्यालय-नरसिंहपुर	१९२५ई०	,,
चंदूलाल	हिन्दी नाटकों का रूप-विधान और वस्तु विकास	दिल्ली प्रकाशन पुस्तक सदन	१९७०ई०	,,
चेनी शेल्डान(अनु: - श्रीकृष्णदास)	रंगमंच	हिन्दी समिति,लखनऊ	१९६५ई०	,,
जयनाथ नलिन	हिन्दी नाटककार	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली	१९५२ई०	,,
दशरथ ओझा(डा०)	हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली	१९५४ई०	,,
दिनेशनारायण उपाध्याय	हमारी नाट्य परम्परा	रामनारायणलाल बुक्सेलर इलाहाबाद	१९४०ई०	,,
देवर्षि सनाढ्य	हिन्दी में पौराणिक नाटक	चौखम्भा विद्या-भवन वाराणसी	२०१७वि०	,,
धीरेन्द्र वर्मा (डा०)	हिन्दी साहित्य कोष	ज्ञानमण्डल,वाराणसी	२०१५वि०	,,
नामवरसिंह (डा०)	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	--	--	--
नन्ददुलारे वाजपेयी	१- राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध	वाराणसी विद्यामन्दिर	१९६५ई०	प्रथम
,,	२- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	लोकभारती,प्रयाग	१९६३ई०	,,

नारायणम् एन०आई०	हिन्दी और मलयालम के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	जवाहर पुस्तकालय मथुरा	१९७२ई०	प्रथम
नन्दिकेश्वर(अनु : वाचस्पति गैरोला	भारतीय नाट्यपरंपरा और अभिनव दर्पण	संवर्तिका प्रकाशन प्रयाग	१९६७ई०	,,
पु०रा०भुपटकर	हिन्दी और मराठी के ऐतिहासिक नाटक	सभा, काशी	--	,,
बल्देवप्रसाद मिश्र(डा०)	नाट्य प्रबन्ध	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई	१९६०ई०	,,
बच्चनसिंह(डा०)	हिन्दी नाटक	लोक भारती प्रयाग	१९६७ई०	द्वितीय
बालमुकुन्द गुप्त	हिन्दी भाषा	भारतमित्र प्रेस कलकत्ता	१९६४वि०	प्रथम
बिहारीलाल वर्मा	विश्वधर्म दर्शन	--	१९५३ई०	,,
बृजेन्द्रनाथ पाण्डेय	भारतेन्दु कालीन व्यंग्य परम्परा	--	२०१३वि०	,,
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१- नाटक	मल्लिकचन्द एण्ड कौ०काशी	१८८३ई०	,,
,,	२- हिन्दी लेक्चर	सभा, काशी	--	,,
महावीरप्रसाद द्विवेदी	१- हिन्दी भाषा की उत्पत्ति	इंडियन प्रेस,प्रयाग	१९११ई०	,,
,,	२- नाट्यशास्त्र	--	--	,,
मन्मथ राय	हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव	साहित्य भवन प्रयाग	१९५३ई०	,,
मोहन कृष्ण दर	काश्मीर का लोक साहित्य	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली	१९६३ई०	,,
मातापुसाद गुप्त(डा०)	तुलसीदास	विश्वविद्यालय,प्रयाग	---	प्रथम
मुकुन्ददेव शर्मा(डा०)	हरिऔध व्यक्ति और साहित्य	--	--	--
रवीन्द्र भ्रमर(डा०)	हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व	भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली	१९६५ई०	प्रथम
राजेन्द्र सिंह गौड़	१- हमारी नाट्य साधना	मेहरा कं० आगरा	२०१०वि०	,,
	२- हमारे नाटककार	,,	,,	,,

रामविलास शर्मा(डा०)	१- भारतेन्दु युग	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९६३ई०	प्रथम चतुर्थ
	२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	विद्याधाम दिल्ली	१९५५ई०	प्रथम
रामचन्द्र शुक्ल	१- हिन्दी साहित्य का इतिहास	सभा ,काशी	२००६ वि०	--
	२- भारतेन्दु साहित्य	हिन्दी पुस्तक लहेरियासराय	१९५५ई०	प्रथम
राजकुमार	नाटक और रंगमंच	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय काशी	१९६१ई०	,,
राजेन्द्र शर्मा(डा०)	हिन्दी के गद्य निर्माता बालकृष्ण भट्ट	विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड,आगरा	१९५८ई०	,,
रामजीलाल बघौलिया	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	--	१९५८ई०	तृतीय
रामस्वरूप चतुर्वेदी(डा०)	भाषा और संवेदना	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	१९६४ई०	प्रथम
राजेन्द्रकुमार (डा०)	परवर्ती हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य	~~[illegible]~~ शब्दपीठ प्रकाशन- प्रयाग	~~१९५७ई०~~ १९७३	~~द्वितीय~~ प्रथम
रामकुमार वर्मा(डा०)	१- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	रामनारायणलाल,प्रयाग	१९४८ई०	द्वितीय
	२- साहित्य - चिंतन	किताब महल, प्रयाग	१९६५ई०	प्रथम
रविशंकर शुक्ल	संयुक्त प्रान्त की देशभाषा	गंगा ग्रन्थागार,लखनऊ	२००३वि०	,,
राधाकृष्णदास	१- भारतेन्दु का जीवन चरित्र	--	--	--
	२- हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास	चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस	१८९४ई०	प्रथम
रामगोपालसिंह चौहान	भारतेन्दु साहित्य	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९५७ई०	,,
रुद्र काशिकेय	भारतेन्दु ग्रन्थावली	सभा, काशी	२०१७वि०	,,

लेखक	ग्रन्थ	प्रकाशक	वर्ष	संस्करण
राम किशोरी श्रीवास्तव	हिन्दी-लोकगीत	--	१९६४ वि०	प्रथम
रामदहिन मिश्र	हिन्दी मुहावरे	ग्रन्थमाला बांकीपुर	--	--
रघुवंश (डा०)	१- प्रकृति और हिन्दी-काव्य	साहित्य भवन, प्रयाग	१९५१ ई०	प्रथम
,,	२- भरत का नाट्यशास्त्र भाग-१	मोतीलाल बनारसीदास	१९६४ ई०	,,
,,	३- नाट्यकला	नैशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९६१ ई०	,,
रामनरेश त्रिपाठी	कविता कौमुदी भाग-३	बम्बई नव प्रकाशन	१९५५ ई०	,,
रमाशंकर शुक्ल रसाल (डा०)	नाट्य निर्णय	अग्रवाल प्रेस आगरा	१९३० ई०	,,
रामरतन भटनागर	१- भारतेन्दु साहित्य एक अध्ययन	किताब महल, प्रयाग	१९४८ ई०	,,
,,	२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	,,	१९५० ई०	,,
रणधीर उपाध्याय (डा०)	हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	नैशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९६६ ई०	,,
रमासेन गुप्ता (डा०)	हिन्दी तथा बंगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	कमल प्रकाशन इन्दौर	१९७१ ई०	,,
रामसागर त्रिपाठी	भारतीय नाट्यशास्त्र और रंग मंच	अशोक प्रकाशन दिल्ली	१९७१ ई०	,,
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डा०)	१- आधुनिक हिन्दी साहित्य	विश्वविद्यालय, प्रयाग	१९४१ ई०	,,
	२- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	साहित्य भवन, प्रयाग	१९६५ ई०	,,
~~[illegible] (डा०)~~	~~रंगमंच और नाटक की भूमिका~~	~~नैशनल पब्लिशिंग हाउस~~		
लक्ष्मीनारायण मिश्र	कवि भारतेन्दु (नाटक)	--	--	--

लक्ष्मीनारायणलाल(डा०)	रंगमंच और नाटक की भूमिका	नैशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९६५ई०	प्रथम
वासुदेवशरण अग्रवाल(डा०)	पृथ्वीपुत्र	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली	१९४९ई०	,,
ब्रजरत्नदास	१- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग	१९४८ई०	,,
,,	२- हिन्दी नाट्य साहित्य	हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस	१९५५ई०	,,
,,	३- खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास	,,	१९९८वि०	,,
विद्यावती लक्ष्मण (विनम्र) (डा०)	हिन्दी रंगमंच और पं०नारायणप्रसाद बेताब	विश्वविद्यालय प्रकाशन काशी	१९७२ई०	,,
ब्रजकिशोर पाठक(डा०)	भारतेन्दु की गद्यभाषा	--	--	,,
विमलकुमार जैन(डा०)	हिन्दी के अर्वाचीनरत्न	नैशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९५६ई०	,,
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	हिन्दी में नाट्यशास्त्र का विकास	साहित्य सेवक कार्यालय काशी	१९९५वि०	,,
श्याम परमार	१- लोकधर्मी नाट्य परंपरा	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय	१९५९ई०	,,
	२- भारतीय लोक साहित्य	--	--	--
श्यामसुन्दरदास(डा०)	राधाकृष्ण ग्रन्थावली	--	--	--
श्यामसुन्दरदास एवं पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	रूपक रहस्य	इंडियन प्रैस प्रयाग	१९८८वि०	प्र
शान्तिप्रकाश शर्मा(डा०)	प्रतापनारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन	विश्व साहित्य भवन दिल्ली	१९७०ई०	,,
शान्तारानी(डा०)	हिन्दी नाटकों में हास्य तत्व	रचना प्रकाशन	१९६९ई०	,
श्री 'भानु'	भारतेन्दु (नाट्यरूपक)	सभा, काशी	२०१९वि०	,,

श्री कृष्णदास	हमारी नाट्य परंपरा	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	१९५६ई०	प्रथम
,,	लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या	साहित्य भवन, प्रयाग	,,	,,
सेठ गोविन्ददास	नाट्यकला मीमांसा	सूचना तथा प्रकाशन म०प्र०	१९६१ई०	,,
सत्येन्द्र (डा०)	लोक साहित्य विज्ञान	शिवलाल अग्रवाल, आगरा	१९६२ई०	,,
सैयद एहतिशामहुसैन	उर्दू साहित्य का इतिहास	लोक भारती प्रकाशन, प्रयाग	१९६६ई०	,,
सर्वदानन्द	रंगमंच	श्रीराम मेहरा एण्ड कं०आगरा	१९६८ई०	,,
सुशीला धीर(डा०)	भारतेन्दु युगीन नाटक	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी म०प्र० भोपाल	१९७१ई०	,,
सोमनाथ गुप्त(डा०)	हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	हिन्दी भवन, प्रयाग	१९५१ई०	,,
हजारीप्रसाद द्विवेदी(डा०) तथा पृथ्वीनाथ द्विवेदी	नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	१९६३ई०	,,
हजारीप्रसाद द्विवेदी(डा०)	१- हिन्दी साहित्य	अतरचन्द कपूरचन्द एण्ड सन्स दिल्ली	१९६४ई०	,,
	२- हिन्दी साहित्य की भूमिका	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई	१९५४ई०	,,
	३- विचार और वितर्क	साहित्य भवन, प्रयाग	१९६९ई०	तृतीय
	४- हिन्दी साहित्य का आदिकाल	—	—	—

संस्कृत

ग्रन्थ	प्राप्य स्थल
गीता	सम्मेलन, प्रयाग
महाभारत	।
ऋग्वेद	।
भरत नाट्यशास्त्र	।
दशरूपक	।
देवी भागवत पुराण	।
विष्णु पुराण	।
मार्कण्डेय पुराण	।

अंग्रेजी

	ग्रन्थ	प्राप्य स्थल
आद्य रंगाचार्य	द इंडियन स्टेज	विश्वविद्यालय, प्रयाग
ए०बी० कीथ	ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	।
,,	संस्कृत ड्रामा	।
बी०के० सरकार	द फाक एलीमेंट आव हिन्दू कल्चर	।
सी० एस० बर्न	द हैंड बुक आव फोकलोर	।
चिलीशार्क	फोक टेल्स आव हिन्दुस्तान	।
जान रस्किन	द क्वीन आव द एयर	।
रीड	फार्म इन माडर्न पोइट्री	।
आर०आर० मैरिट	साइकोलाजी एण्ड फन्डामेन्टल फोकलोर	।
जेम्स ड्रेवर	ए डिक्शनरी आव साइकोलाजी	।

------:o:------